प्रथम संस्करण : १२ हजार (२५ मई, १९९१ ई०)

मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

दातार	राशि
स्व० श्रीमती सुन्दरबाई सोनी व स्व० श्री नाथूलालजी सोनी छावनी, इन्दौर की पुण्य स्मृति में	२१०१.००
श्री दिग० जैन स्वाध्याय मंडल, कानपुर	५५१.००
श्री विमलचन्दजी, नीरू केमिकल्स, दिल्ली	५०१.००
श्री प्रकाशचन्दजी लुहाड़िया, इन्दौर	५०१.००
श्री माणकचन्दजी पाटोदी, लोहारदा	५०१.००
श्री पूनमचन्दजी केसरीमलजी सेठी, दिल्ली	५०१.००
श्री मनोजकुमारजी जैन, मुजफ्फरनगर	५०१.००
श्री भंवरीदेवी घीसालालजी छाबड़ा, सीकर	५०१.००
श्री मांगीलालजी पहाड़िया, इन्दौर	३५१.००
श्रीमती निर्मलाबाई, खातेगांव	३५१.००
श्री जगनमल अजितकुमारजी सेठी, इम्फाल	३५१.००
श्री अभिनन्दनप्रसादजी जैन, सहारनपुर	३५१.००
श्री माणकचन्दजी लुहाड़िया, दिल्ली	३५१.००
श्री जयचन्दलालजी पाटनी, गौहाटी	३५१.००
श्री जयकुमारजी जैन, आदर्शनगर, जयपुर	२५१.००
श्री आदर्शनगर महिला समाज, जयपुर	२५१.००
श्री झमकलालजी बड़जात्या, रतलाम	२०१.००
श्री शान्तिलालजी पाटनी, रतलाम	२०१.००
श्री जयन्तीभाई दोशी, बम्बई	२०१.००
श्री मनोहरलालजी काला, इन्दौर	१५१.००
श्री जे० लालचन्दजी, इन्दौर	१५१.००
श्री फूलचन्दजी झांझरी, उज्जैन	१५१.००
श्री सन्तोषकुमारजी पाटनी, वाशिम	१५१.००
श्री फूलचन्दजी चौधरी, बम्बई	१५१.००
श्री जयकुमारजी जैन (देवीदासजी), आदर्शनगर, जयपुर	१२५.००
श्री फूलचन्दजी आदर्शनगर, जयपुर	१२५.००
श्री डॉ० राजेन्द्रजी बंसल, अमलाई	१०१.००
श्री तुलसाबाई बालचन्दजी, बबीना	१०१.००
श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	१०१.००
श्री जवाहरलालजी जैन, जयपुर	१०१.००
श्री कस्तूरीबाई (महेन्द्रकुमारजी) आदर्शनगर, जयपुर	१०१.००
श्री कस्तूरीबाई, आदर्शनगर, जयपुर	१०१.००
दस हजार चार सौ अस्सी रुपये मात्र	१०,४८०.००

लेजर टाइप सेटर्स
नेशनल एजेन्सीज
८४५, नाटाणियों का रास्ता
जयपुर

मुद्रक :
कोटावाला आफसेट
सुभाष मार्ग, सी-स्कीम
जयपुर

सम्मत्यर्थं/समालोचनार्थं

निमित्तोपादान

© लेखक :

डॉ. हुकमचंद भारिल्ल

शास्त्री न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए. पीएच.डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५



प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशकीय

जैनदर्शन के आध्यात्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिकसत्पुरुष पू० कानजी स्वामी के उदय के साथ-साथ जो विषय बहुचर्चित हुए, उनमें प्रमुख हैं—क्रमबद्धपर्याय, निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त। इनके सन्दर्भ में गांव-गांव में चलनेवाली चर्चा ने एक विवाद का रूप ले लिया था। ज्यों-ज्यों यह आध्यात्मिक क्रान्ति विस्तार को प्राप्त हुई, त्यों-त्यों ही विवाद ने भी उग्ररूप धारण किया।

विवाद की गहराई में जाकर देखने पर एक तथ्य सामने आया कि विषय का अपरिचय ही विवाद का मूल कारण है। अतः यह निश्चय किया गया कि यदि इन विषयों को आगम के आलोक में सरल-सुबोध शैली में जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया जाय तो विवाद सहज ही शांत हो सकते हैं।

जब डा० भारिल्ल ने इन विषयों पर नगर-नगर में सरल-सुबोध शैली में सप्रमाण प्रवचन किये तो उसका अनुकूल प्रभाव सामने आया। तब यह अनुभव किया गया कि यदि इन विषयों को लिखितरूप में भी प्रस्तुत किया जाय तो सफलता अवश्यंभावी है। परिणामस्वरूप क्रमबद्धपर्याय और परमभावप्रकाशक नयचक्र जैसी कृतियां सामने आईं; जिन्होंने तत्संबंधी विवादों को लगभग समाप्त ही कर दिया।

उसी क्रम में यह 'निमित्तोपादान' कृति है। हमें विश्वास है कि इससे भी आध्यात्मिक समाज भरपूर लाभ लेगा।

२५-४-१९९१ ई०

नेमीचंद पाटनी

महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषयसूची

प्रथम खण्ड

निमित्तोपादान : एक अनुशीलन

मुक्ति के मार्ग में जिन महत्त्वपूर्ण विषयों का सम्यक् परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, उनमें से 'उपादान-निमित्त' भी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसके सम्यक् ज्ञान बिना परावलम्बन की दृष्टि एवं वृत्ति समाप्त नहीं होती, स्वावलम्बन का भाव जागृत नहीं होता, मुक्ति के मार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी स्फुरायमान नहीं होता है।

'क्रमबद्धपर्याय' और 'निश्चय-व्यवहार' के समान 'उपादान-निमित्त' भी आज का बहुचर्चित विषय है; जिसकी चर्चा कभी विद्वानों की गोष्ठियों में भी नहीं होती थी, परन्तु आज वह जन-जन में चर्चित है। इसकी चर्चा ने जहाँ एक ओर लोगों में इसके सन्दर्भ में जिज्ञासा उत्पन्न की है, तत्सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन के लिये प्रेरित किया है; वहीं दूसरी ओर कुछ द्वन्द्व भी खड़े हो गये हैं। आज इसकी चर्चा ने पक्ष-विपक्ष का रूप ले लिया है। यही कारण है कि इसके सन्दर्भ में आज जब भी कोई कुछ बोलता या लिखता है तो उसकी वाणी या लेखनी में पक्ष-विपक्ष की बू आती है, समाज भी उसे पक्ष या विपक्ष के रूप में ही ग्रहण करती है।

आज का यह द्वन्द्व संघर्ष में परिवर्तित न हो जाय— इसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि आगम के आलोक में इस विषय पर गंभीरता से निष्पक्ष मंथन किया जाय और उसे समाज के समक्ष सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया जाय।

इस विषय का सर्वांग अनुशीलन ही द्वन्द्व और संघर्ष से बचने का एकमात्र उपाय है। वस्तुस्वरूप के परिज्ञान के लिये भी उपादान-निमित्त की तर्कसंगत, आगमसम्मत सुव्यवस्थित जानकारी अत्यन्त आवश्यक है।

'निश्चय-व्यवहार' और 'क्रमबद्धपर्याय' जैसे विवादास्पद विषय भी जब आगम के आलोक में सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किये गये; तब न केवल विद्वद्वर्ग एवं समाज ने उन्हें सराहा, अपितु तत्संबंधी विवाद भी लगभग समाप्त हो गये हैं। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि उपादान-निमित्त का भी इसीप्रकार अनुशीलन किया जाय तो अपेक्षित लाभ अवश्य होगा।

उपादान-निमित्त के सम्यक् परिज्ञान के अभाव में जिनागम में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था को भी सम्यक्रूप में समझना संभव नहीं है। उपादान-निमित्त संबंधी सम्यग्ज्ञान के अभाव में या तो निमित्त को कर्ता मान लिया जाता है या फिर उसकी सत्ता से ही इन्कार किया जाने लगता है; अतः यह आवश्यक है कि हम उपादान-निमित्त को द्वन्द्व के रूप में न देखकर, उनके पक्ष या विपक्ष में भी कुछ न कहकर, उनके स्वरूप पर ही आगम के आलोक में विचार करें। उनका स्वरूप सम्यक्रूप से स्पष्ट होने पर सम्पूर्ण स्थिति सहज ही स्पष्ट हो जावेगी।

जगत का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। पदार्थों के इस परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। इस परिणमन को ही कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

कार्य कारणपूर्वक ही होता है और कार्य की उत्पादक

सामग्री को ही कारण कहा जाता है। वह कार्य की उत्पादक सामग्री उपादान और निमित्तों के रूप में होती है। यही कारण है कि जिनागम में उपादान और निमित्तों की चर्चा कारणों के रूप में हुई है और इसीकारण कारण भी दो प्रकार के माने गये हैं:—

(१) उपादानकारण और (२) निमित्तकारण।

जो स्वयं कार्यरूप में परिणमित हो, उसे उपादानकारण कहते हैं और जो स्वयं तो कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे—घटरूप कार्य का मिट्टी उपादानकारण है और चक्र, दण्ड एवं कुम्हार आदि निमित्तकारण हैं।

जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, उस पदार्थ को उपादानकारण और जो कार्य निष्पन्न हुआ है, उसे उपादेय कहा जाता है तथा निमित्तकारण की अपेक्षा कथन करने पर उसी कार्य (उपादेय) को नैमित्तिक भी कहा जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि एक ही कार्य को उपादानकारण की अपेक्षा उपादेय और निमित्तकारण की अपेक्षा नैमित्तिक कहा जाता है। जो घटरूप कार्य मिट्टीरूप उपादानकारण का उपादेय कार्य है, वही घटरूप कार्य कुम्हाररूप निमित्तकारण का नैमित्तिक कार्य है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी और घट में उपादान-उपादेय सम्बन्ध है तथा कुम्हार और घट में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यदि हम उसे सम्यग्दर्शनरूप कार्य पर घटित करें तो इसप्रकार कहना होगा — आत्मद्रव्य या उसका श्रद्धागुण उपादान है और सम्यग्दर्शन उपादेय है; इसीप्रकार मिथ्यात्व

कर्म का अभाव अथवा सद्गुरु का उपदेश निमित्त है और सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है।

यहाँ उपादेय शब्द का अर्थ 'ग्रहण करने योग्य' नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह प्रकरण हेयोपादेय बतानेवाला प्रकरण नहीं है। यहाँ तो कार्य-कारण सम्बन्धी प्रकरण होने से मात्र यह स्पष्ट किया जा रहा है कि जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहा जाता है, उसी कार्य को उपादान की अपेक्षा उपादेय कहा जाता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि उपादान-उपादेय सम्बन्ध एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कारण-कार्य सम्बन्ध के ही रूप हैं, जो प्रत्येक कारण-कार्य सम्बन्ध पर अनिवार्य रूप से घटित होते हैं। इसप्रकार प्रत्येक कार्य नियमरूप से उपादेय भी है और नैमित्तिक भी है, उपादान की अपेक्षा उपादेय है और निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि 'द्रव्य या गुण' उपादानकारण हैं, जैसा कि सम्यग्दर्शनरूप कार्य के उदाहरण में बताया गया है, तो विवक्षित कार्य निरन्तर उत्पन्न होते ही रहना चाहिये; क्योंकि जब कारण उपस्थित है तो कार्य भी होना ही चाहिये।

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि उपादानकारण तो द्रव्य या गुण होने से सदाकाल ही उपस्थित रहता है, पर निमित्तकारण के न होने से कार्य नहीं हुआ; जब निमित्त कारण मिलेगा, तब कार्य सम्पन्न हो जायेगा। —ऐसा मानने पर निमित्तकारण ही नियामक कारण ठहरेगा; क्योंकि उसके होने या न होने पर ही कार्य का होना या नहीं होना निर्भर करेगा।

इस आपत्ति से बचने के लिये यदि यह कहा जाय कि कार्य की उत्पत्ति में तो दोनों ही कारणों की उपस्थिति अनिवार्य होती है तो हम कहेंगे कि भले ही दोनों कारणों की उपस्थिति अनिवार्य हो, पर नियामक कारण तो निमित्त ही रहा; क्योंकि उसके होने पर कार्य होता है और नहीं होने पर नहीं होता।

अरे भाई! कार्य का नियामक कारण कौन है? यह जानने के पहिले हम उपादान-निमित्त को उनके भेद-प्रभेदों सहित अच्छी तरह समझ तो लें, फिर इस विवाद में उलझें; हो सकता है उपादान-निमित्त के भेद-प्रभेदों के स्पष्टीकरण में यह प्रश्न सहज ही सुलझ जाय। वस्तुतः बात तो यह है कि उपादान-निमित्त के भेद-प्रभेदों के सम्यग्ज्ञान में ही इस प्रश्न का उत्तर समाहित है। अतः सबसे पहिले उनके भेद-प्रभेदों की चर्चा अपेक्षित है।

उपादान दो प्रकार का होता है—

(१) त्रिकाली उपादान और (२) क्षणिक उपादान

निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं—

(१) उदासीन और (२) प्रेरक

अथवा

(१) अन्तरंग और (२) बहिरंग

जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उस द्रव्य या गुण को उस कार्य का त्रिकाली उपादानकारण कहते हैं।

क्षणिक उपादानकारण दो प्रकार का होता है—

(क) द्रव्य और गुणों में जो पर्यायों का प्रवाहक्रम अनादि-अनन्त चला करता है, उस प्रवाहक्रम में अनन्तर-पूर्वक्षणवर्तीपर्याय क्षणिक उपादानकारण है और अनन्तर-उत्तर

क्षणवर्तीपर्याय कार्य है। इसे इसप्रकार भी कहा जाता है कि अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्य कारण है और अनन्तर-उत्तरक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्य कार्य है।

उक्त संदर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

"पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तर परिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥२३०॥

अनन्तरपूर्वपरिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से परिणमित होता है और अनन्तर-उत्तरपरिणाम से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।"

इसी बात को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी लिखते हैं—

"जो अनन्तरपूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य है, उसकी उपादान संज्ञा है और जो अनन्तर-उत्तरपर्यायविशिष्ट द्रव्य है, उसकी कार्य संज्ञा है।[१]"

(ख) उस समय की पर्याय की उसीसमय होनेरूप योग्यता क्षणिक उपादानकारण है और वह पर्याय कार्य है।

इसप्रकार उपादानकारण तीन प्रकार का हो गया, जो इसप्रकार है—

(१) त्रिकाली उपादानकारण।

(२) अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप क्षणिक उपादानकारण।

(३) तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादानकारण।

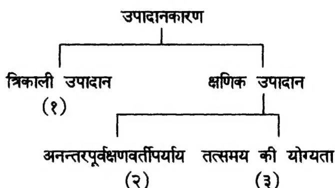
---

१. जैनतत्त्वमीमांसा, पृष्ठ ७५

क्षणिक उपादान के नाम लम्बे होने के कारण उन्हें निम्नांकित संक्षिप्त नामों से भी अभिहित किया जाता रहा है—

(क) अनन्तरपूर्ववर्तीपर्याय
(ख) तत्समय की योग्यता

उपादान के उक्त तीन भेदों की स्थिति स्पष्ट करने के लिये निम्नांकित चार्ट उपयोगी है—



क्षणिक उपादनकारण को समर्थ उपादानकारण भी कहते हैं, क्योंकि त्रिकाली उपादानकारण तो सदा विद्यमान रहता है; यदि उसे ही पूर्ण समर्थ कारण मान लिया जाय तो विवक्षित कार्य की सदा उत्पत्ति होते रहने का प्रसंग आयेगा। अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय का व्यय एवं उस समय उस पर्याय के उत्पन्न होने की योग्यता-ही समर्थ उपादानकारण है; जिनके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती और जिसके होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उपादान के दो भेद किये गये हैं— एक असमर्थ उपादान और दूसरा समर्थ उपादान। उनमें जो समर्थ उपादान है, वह अवश्य ही कार्य का जनक होता है

और वह अष्टसहस्री के अभिप्रायानुसार अव्यवहित पूर्वपर्याययुक्तद्रव्यरूप ही होता है।[१]

इसप्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समर्थ उपादान एक ही होता है और उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य वही होता है, जिसका वह समर्थ उपादान होता है। वहाँ उस कार्य का जो भी निमित्त होता है, उसमें उपादान की क्रिया करने की शक्ति ही नहीं होती। मात्र वह उपादान के अनुसार होनेवाला कार्य का सूचक होने से उसका निमित्त कहलाता है। और इसी आधार पर निमित्त के अनुसार कार्य होता है, ऐसा व्यवहार (उपचार) किया जाता है।[२]"

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नियामक कारण त्रिकाली उपादानकारण नहीं, अपितु क्षणिक उपादानकारण है। निमित्तकारण को नियामक कारण मानने वालों को इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

निमित्त को नियामक कारण के रूप प्रस्तुत करते समय यह तर्क दिया गया था कि उपादान तो सदा विद्यमान रहता है, यदि उसे ही नियामक या समर्थ कारण माना जायेगा तो कार्य के सदा ही उत्पन्न होते रहने का प्रसंग आयेगा।

उक्त संदर्भ में वस्तुस्थिति यह है कि त्रिकाली उपादानकारण को ही उपादानकारण मानकर यह कहा गया था कि उपादान तो सदा ही रहता है, जबकि क्षणिक उपादान भी तो उपादान है, जो सदा उपस्थित नहीं रहता; अतः उपादान को समर्थ कारण मानने पर कार्य सदा होते रहने के प्रसंग

---

१. जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान, पृष्ठ १५

२. जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान, पृष्ठ १५

उपस्थित होने का आरोप निराधार है; क्योंकि कार्य का नियामक कारण तो क्षणिक उपादान है, त्रिकाली उपादान नहीं।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि जब क्षणिक उपादान ही समर्थ उपादान है तो फिर त्रिकाली उपादान का क्या महत्व रहा ?

भाई, बात ऐसी है कि उपादान तो निजशक्ति को कहते हैं। जैसा कि कहा गया है:—

"उपादान निजशक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तैं, बन्यो अनादि बनाव॥"[१]

शक्ति दो प्रकार की होती है — द्रव्यशक्ति और पर्यायशक्ति। इन दोनों शक्तियों का नाम ही उपादान है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य। नित्यशक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पयार्यशक्ति को ही कार्य का नियामक स्वीकार किया गया है।

द्रव्यशक्ति यह बताती है कि यह कार्य इस द्रव्य में ही होगा, अन्य द्रन्य में नहीं और पर्यायशक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा। अतः न तो द्रव्यशक्ति महत्त्वहीन है और न पर्यायशक्ति ही; दोनों का ही महत्त्व है, पर काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। काल का दूसरा नाम भी पर्याय ही है। यह पर्यायशक्ति अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप एवं तत्समय की योग्यतारूप होती है। अतः इन दोनों की ही क्षणिक उपादान

१. भैया भगवतीदास : उपादान-निमित्त सम्बाद, दोहा-३

संज्ञा है। इसीलिये क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कहा गया है।

यदि त्रिकाली उपादान को भी शामिल करके बात कहें तो इसप्रकार कहा जायेगा कि पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारी है, पर इसमें भी नियामक कारण के रूप में तो पर्यायशक्तिरूप क्षणिक उपादान ही रहा।

यदि निमित्त को भी इसमें शामिल करके बात करनी है तो इसप्रकार कहा जा सकता है कि सहकारीकारणसापेक्ष विशिष्टपर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है।

उक्त सन्दर्भ में जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा में सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी ने अनेक न्यायशास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते हुए जो स्पष्टीकरण किया है, उसका कतिपय महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है:—

"श्री राजवार्तिक में कहा है— यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्येदण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति। यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करा-दिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटो भवति। अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्त-सापेक्ष अभ्यन्तरपरिणाम सान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम्।

अर्थ — जैसे मिट्टी के स्वयं भीतर से घट के होनेरूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तों के रहने पर भी बालुकाबहुल मिट्टी का पिण्ड स्वयं भीतर से घट के होनेरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होने के (घटपर्याय रूप

परिणमन के सन्मुख न होने के) कारण घट नहीं होता; अतः बाह्य में दण्डादिनिमित्त सापेक्ष मिट्टी का पिण्ड ही भीतर घट होनेरूप परिणाम का सानिध्य होने से घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिये दण्डादि निमित्तमात्र हैं।

यह प्रेरक निमित्तों की निमित्तता का स्पष्टीकरण है। इस उल्लेख में बहुत ही समर्थ शब्दों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि न तो सब प्रकार की मिट्टी ही घट का उपादान है और न ही पिण्ड, स्थास, कोश और कुसूलादि पर्यायों की अवस्थारूप से परिणत मिट्टी घट का उपादान है, किन्तु जो मिट्टी अनन्तर समय में घटपर्यायरूप से परिणत होनेवाली है, मात्र वही मिट्टी घटपर्याय का उपादान है।

यही तथ्य राजवार्तिक के उक्त उल्लेख द्वारा स्पप्ट किया गया है। मिट्टी की ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर वह नियम से घट का उपादान बनती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि जब मिट्टी घटपर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न की निमित्तता स्वीकृत की गई है, अन्य काल में वे निमित्त स्वीकार नहीं किए गये हैं।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है–

यच्चोच्यते–शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि। तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्याये वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्यपर्याय-शक्त्यात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधनस्व-भावत्वाद् द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव, सादिपर्यवसा-नत्वात् पर्यायाणाम्। न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणन-पेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषंगः, द्रव्यशक्तेः केवलायाः

कार्यकारित्वानभ्युपगमात्। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा।

— प्रमेयकमलमार्तण्ड २, १ पृ. १८७

और जो यह कहा जाता है कि शक्ति नित्य है कि अनित्य है इत्यादि। सो वहाँ क्या यह द्रव्यशक्ति या पर्यायशक्ति के विषय में प्रश्न है, क्योंकि पदार्थ द्रव्य-पर्याय शक्तिस्वरूप होते हैं। उनमें से द्रव्यशक्ति नित्य ही है, क्योंकि द्रव्य अनादिनिधन स्वभाववाला होता है। पर्यायशक्ति तो अनित्य ही है, क्योंकि पर्याय सादि-सान्त होती है।

यदि कहा जाए कि शक्ति नित्य है, इसलिये सहकारी कारणों की अपेक्षा किये बिना ही कार्यकारीपने का प्रसंग आ जाएगा—सो ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्यशक्ति का कार्यकारीपना स्वीकार नहीं किया गया है। किन्तु पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति कार्य करने में समर्थ होती है, क्योंकि विशिष्टपर्याय से परिणत द्रव्य का ही कार्यकारीपना प्रतीत होता है और उसकी परिणति सहकारी कारणसापेक्ष होती है, क्योंकि पर्यायशक्ति तभी होती है; इसलिये न तो सर्वदा कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आता है और न ही सहकारी कारणों की अपेक्षा की व्यर्थता प्राप्त होती है।

इसप्रकार यह ज्ञात हो जाने पर कि सहकारी कारणसापेक्ष विशिष्टपर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारिणी मानी गई है, केवल उदासीन या प्रेरक निमित्तों के बल पर मात्र द्रव्यशक्ति से ही द्रव्य में कार्य नहीं होता।

यदि द्रव्यशक्ति को बाह्यनिमित्तों के बल से कार्यकारी

मान लिया जाए तो चने से भी गेहूँ की उत्पत्ति होने लगे, क्योंकि गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु वह पुद्गलद्रव्य की एक पर्याय है; अतएव गेहूँपर्यायविशिष्ट पुद्गलद्रव्य बाह्यकारणसापेक्ष गेहूँ के अंकुरादि कार्यरूप से परिणत होता है।

यदि विशिष्टपर्यायरहित द्रव्य सामान्य से निमित्तों के बल पर गेहूँ के अंकुरादि पर्यायों की उत्पत्ति मान ली जाए तो जो पुद्गल चनारूप हैं, वे पुद्गल होने से उनसे भी गेहूँरूप पर्याय की उत्पत्ति होने लगेगी; इसलिये जो विविध लौकिक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि जब जैसे प्रबल निमित्त मिलते हैं; तब द्रव्य को निमित्तों के अनुसार परिणमना ही पड़ता है; सो यह कथन आगमानुकूल न होने से संगत प्रतीत नहीं होता।

वास्तव में मुख्य विवाद उपादान का है, उसका जो समीचीन अर्थ शास्त्रों में दिया है, उस पर सम्यक् दृष्टिपात न करने से ही यह विवाद बना हुआ है।

यदि आगमानुसार विशिष्टपर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति को अन्तरंग कारण अर्थात् उपादानकारण स्वीकार कर कार्य-कारण की व्यवस्था की जाय तो कोई विवाद ही न रह जाए, क्योंकि यथार्थ में जब-जब विवक्षित कार्य के योग्य विशिष्टपर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति होती है, तब-तब उस कार्य के अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं—ऐसा नियम है और ऐसा है नहीं कि निश्चय उपादान हो और निमित्त न मिलें।

इसी बात को असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा यों कहा जाता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है।[१]"

---

१. जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा, पुस्तक २, पृष्ठ ३८३-३८५

एक बात यह भी तो है कि जिसप्रकार त्रिकाली उपादान सदा उपस्थित रहता है; उसीप्रकार सामान्यतः निमित्त भी सदा उपस्थित रहते हैं; क्योंकि जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं के कार्य के लिये उपादान है, उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य पर के कार्य के लिये निमित्त भी तो है।

धर्मद्रव्यरूप निमित्त सदा विद्यमान है, तो क्या इसके आधार पर जीव और पुद्गलों को निरन्तर चलते रहना चाहिये। इसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी सदा विद्यमान रहता है, तो क्या जीव और पुद्गलों को निरन्तर स्थित भी रहना चाहिये। यह संभव भी कैसे होगा, क्योंकि गमन और स्थिति के निमित्तों के सदा विद्यमान रहने पर जीव और पुद्गल चलेंगे या ठहरेंगे ? परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली होने से चलना और ठहरना दोनों क्रियायें एक साथ तो सम्भव नहीं हैं।

अतः सहजरूप से तो यही सिद्ध होता है कि सभी जीव और पुद्गल अपनी क्षणिक उपादानगत योग्यता के अनुसार चलते व ठहरते हैं और जब-जब वे अपनी योग्यतानुसार चलते व ठहरते हैं, तब-तब धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्तमात्र हो जाते हैं।

इसप्रकार नियामक कारण तो उपादानगत योग्यतारूप क्षणिक उपादान ही रहा; न तो त्रिकाली उपादान ही नियामक कारण है और न निमित्त ही।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि धर्म और अधर्म तो उदासीन निमित्त हैं, इसकारण वे नियामक कारण कदाचित् न भी हों, पर प्रेरक निमित्त के बारे में तो ऐसी बात नहीं होना चाहिये।

अतः उदासीन निमित्त भले ही कुछ न करते हों, पर

प्रेरक निमित्त तो सब-कुछ करते ही हैं। छात्रों के अध्ययन में अध्यापक, पुस्तक और दीपक—ये तीनों ही निमित्त हैं; पर अध्यापक प्रेरक निमित्त है और पुस्तक व दीपक उदासीन निमित्त हैं। दीपक और पुस्तक को भले ही कर्ता मत कहो, पर अध्यापक को तो कर्ता ही कहना होगा। वह तो सक्रिय होकर प्रेरणा देता है, समझाता है; फिर भी यदि छात्र अध्ययन में प्रवृत नहीं होते हैं, तो वह उन्हें दण्ड भी देता है।

अतः पुस्तक और दीपक की अपेक्षा अध्यापक का स्थान अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है।

क्यों नहीं, यह बात तो एकदम स्पष्ट ही है कि दीपक और पुस्तक की अपेक्षा अध्यापक की निमित्तता भिन्न प्रकार की है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये तो निमित्तों के उदासीन और प्रेरक ये दो भेद किये गये हैं और यह बताया गया है कि छात्रों के अध्ययन में पुस्तक और दीपक उदासीन निमित्त हैं और अध्यापक प्रेरक निमित्त।

उक्त विश्लेषण से तो उदासीन और प्रेरक निमित्तों में परस्पर क्या अन्तर है? — मात्र यही स्पष्ट होता है, कार्योत्पत्ति में निमित्त का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

उक्त संदर्भ में 'इष्टोपदेश' का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥"[1]

अज्ञ को उपदेशादि निमित्तों द्वारा विज्ञ नहीं किया जा सकता और न विज्ञ को अज्ञ ही कर सकते हैं; क्योंकि परपदार्थ तो निमित्तमात्र हैं, जैसे कि स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों

१. आचार्य पूज्यपाद : इष्टोपदेश, श्लोक-३५

को धर्मास्तिकाय होता है।"

इसी को स्पष्ट करते हुए इसकी संस्कृत टीका में लिखा है:—

"नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह। अन्य पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थ समुत्पादभ्रंशयोनिमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात्।[1]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यों तो बाह्यनिमित्तों का निराकरण ही हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि अन्य जो गुरु आदि तथा शत्रु आदि हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं। वस्तुतः किसी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है।"

उक्त कथन में यह बात एकदम स्पष्ट है कि कार्य के प्रति साधकतम तो तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण ही है; न तो त्रिकाली उपादान ही नियामक है और न निमित्त ही।

प्रेरक व उदासीन निमित्तों में मूलभूत अन्तर इसप्रकार हैं—

इच्छाशक्ति से रहित एवं निष्क्रिय द्रव्य उदासीन निमित्त होते हैं और इच्छावान एवं क्रियावान द्रव्य प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं। धर्मद्रव्य स्वयं चलते हुए जीव और पद्गलों की गति में निमित्त होता है और अधर्मद्रव्य गमनपूर्वक ठहरते हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति में निमित्त होता है। आकाशद्रव्य सभी द्रव्यों के अवगाहन में निमित्त है और कालद्रव्य सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होता है।

---

१. आचार्य पूज्यपाद : इष्टोपदेश, श्लोक ३५ की संस्कृत टीका

धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल — ये चारों द्रव्य इच्छाशक्ति से रहित हैं और निष्क्रिय भी हैं; अतः ये उदासीन निमित्त कहे जाते हैं।

छात्रों को पढ़ानेवाले अध्यापक इच्छावान होने से प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं और ध्वजा के फड़कने में हवा सक्रिय होने से प्रेरक निमित्त कही जाती है।

यद्यपि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इच्छाशक्ति से रहित और निष्क्रिय होने से एवं पुद्गल क्रियावान होने से प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं, तथापि कार्योत्पत्ति में सभी निमित्त धर्मास्तिकाय के समान उदासीन ही हैं।

प्रश्नः—छात्रों के अध्ययन में अध्यापक की उपयोगिता से इन्कार करना ठीक नहीं है। अरे भाई देशनालब्धि के बिना तो किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। चारणऋद्धिधारी मुनिराजों का उपदेश पाकर तो भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की थी। उसका ही परिणाम है कि वह जीव आगे जाकर भगवान महावीर बना। आप उपदेशरूप निमित्त का निषेध क्यों करते हैं?

उत्तरः—उपदेशरूप निमित्त का निषेध कौन करता है? निमित्त के कर्तृत्व का निषेध अवश्य किया जाता है। जिसप्रकार अध्यापक के बिना छात्रों का अध्ययन सम्भव नहीं है; उसप्रकार तो दीपक और पुस्तक के बिना भी अध्ययन संभव नहीं है। छात्रों के अध्ययन में अध्यापक, दीपक, और पुस्तक सभी की उपयोगिता है। यदि ऐसा न होता तो दीपक क्यों जलाये जाते, पुस्तकें क्यों लिखीं जाती और विश्वविद्यालयों की स्थापना भी क्यों होती, साधुओं में भी उपाध्याय का पद क्यों होता?

यदि निमित्तों का निषेध किया जाता तो अवश्य ही उक्त प्रश्न खड़ा होता, पर निमित्तों की सत्ता से इन्कार कौन करता है? पर यह भी तो विचारणीय है कि अकेले उपदेश से ही आत्महित होता होता तो उपदेश तो बहुत जीव सुनते हैं, सभी का हित क्यों नहीं हो जाता?

एक कक्षा में अनेक छात्र पढ़ते हैं, उन्हें पढ़ानेवाला अध्यापक एक, पुस्तकें भी वही, दीपक भी वही, फिर भी सभी विद्वान तो नहीं बन जाते। सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही विद्वान बनते हैं।

इसीप्रकार एक ही समोशरण में एक साथ अनेक जीव धर्मोपदेश सुनते हैं, पर सभी सम्यग्दृष्टि, व्रती या साधु तो नहीं हो जाते, सब अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार ही परि ने हैं।

अतः यह सुनिश्चित ही है कि कार्य के प्रति नियामक कारण तो अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता ही है।

जरा विचार तो कीजिये कि भगवान महावीर के जीव का हित मारीचि के भव में ही क्यों नहीं हो गया? क्या वहाँ सद्‌निमित्तों की कमी थी? पिता चक्रवर्ती भरत, धर्मचक्र के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव बाबा। भगवान ऋषभदेव के समवशरण में उनका उपदेश सुनकर तो उसने विरोधभाव उत्पन्न किया था। क्या उनके उपदेश में कोई कमी थी? क्या चारणऋद्धिधारी मुनियों का उपदेश उनसे भी अच्छा था?

इसी से सिद्ध होता है कि जब पर्यायगत उपादान की तैयारी हो, तब कार्य होता है और उस समय योग्य निमित्त भी होता ही है, उसे खोजने नहीं जाना पड़ता है।

क्रूर शेर की पर्याय में घोर वन में उपदेश का कहाँ अवसर था? पर उसका पुरुषार्थ जगा तो निमित्त आकाश से उतर कर आये।

इसलिये तो कहा जाता है कि आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिये। 'निमित्त नहीं होता'— यह कौन कहता है? पर निमित्तों को खोजना भी नहीं पड़ता है। जब उपादान में कार्य होता है तो तदनुकूल निमित्त होता ही है।

निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता है, कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है। वेश्या के मृत शरीर को देखकर रागी को राग और वैरागी को वैराग्य उत्पन्न होता है और वह वेश्या रागी के राग और वैरागी के वैराग्य का निमित्त कही जाती है। यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो उसे देखकर प्रत्येक को या तो राग ही उत्पन्न होना चाहिये या फिर वैराग्य ही।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कहते हैं — "परद्रव्य कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़ें तब वह भी बाह्यनिमित्त है। तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूप से निमित्त भी नहीं है।

इसप्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना मिथ्याभाव है।[1]"

न तो निमित्त उपादान में बलात् कुछ करता है और न ही उपादान किन्हीं निमित्तों को बलात् लाता या मिलाता है। दोनों का सहज ही सम्बन्ध होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सहजता को पण्डित टोडरमलजी ने इसप्रकार स्पष्ट किया है :—

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २४४

"यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्यसामग्री को मिलावे; तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिये और बलवानपना भी चाहिये; सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मों का उदयकाल हो, उस काल में स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणमन नहीं करता, विभावरूप परिणमन करता है तथा जो अन्य द्रव्य हैं, वे वैसे ही सम्बन्धरूप होकर परिणमित होते हैं।

जिसप्रकार सूर्य के उदय के काल में चकवा-चकवियों का संयोग होता है; वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं। दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से लाकर मिलाये नहीं हैं, सूर्यास्त का निमित्त पाकर वे स्वयं ही बिछुड़ते हैं और सूर्योदय का निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। उसीप्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तक भाव जानना।[१]"

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक सहज सम्बन्ध है, उसे कर्ता-कर्म सम्बन्ध के रूप में प्रस्तुत करना उपयुक्त नहीं है। पर के साथ कारकता के सम्बन्ध का निषेध करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं:—

"अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्व-सम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गण-व्यग्रतया परतंत्रैर्भूयते।[२]

इसलिये निश्चय से पर के साथ आत्मा के कारकता का कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि शुद्धात्मलाभ की प्राप्ति के लिये जीव न मालूम क्यों व्यग्रता से परतंत्र होते हैं।"

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२५

२. प्रवचनसार गाथा १६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृष्ठ २७-२८

इसी बात को स्पष्ट करते हुए इसी गाथा के भावार्थ में लिखा गया है:—

"उपरोक्त प्रकार से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनंन्तशक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है, इसलिये स्वयं ही छहकारकरूप होकर अपना कार्य करने के लिये समर्थ है, उसे बाह्यसामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिये केवलज्ञान के इच्छुक आत्मा को बाह्यसामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है।"

स्वभाव भावों में तो पर का कर्तृत्त्व है ही नहीं, विभाव भावों में भी पर के कर्तृत्त्व का निषेध किया गया है। पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ६२ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत समयव्याख्या नामक टीका में इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। टीका के भाव को स्पष्ट करते हुए भावार्थ में लिखा गया मूल कथन इसप्रकार है:—

"इसप्रकार पुद्गल की कर्मोदयादिरूप से या कर्मबन्धादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छहकारकरूप से वर्तता है; इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है तथा जीव की औदयिकादि भावरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छहकारकरूप से वर्तता है; इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गल की और जीव की उपरोक्त क्रियायें एक ही काल में वर्तती हैं, तथापि पौद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छहकारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रिया में वर्तते हुए जीव के छहकारक पुद्गलकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों की अपेक्षा नहीं होती।"

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि यह भगवान आत्मा अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्यायों एवं रागादिकरूप विकारीपर्यायों के रूप में अपनी-अपनी स्वसमय की योग्यतानुसार स्वयं ही परिणमित होता है, उसमें पर (निमित्त) का कोई हस्तक्षेप नहीं है।

हाँ, यह अवश्य है कि जब यह आत्मा सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों या रागादि विकारीपर्यायों के रूप में अपनी स्वभावगत एवं पर्यायगत योग्यता के अनुसार परिणमित होता है, तब तदनुकूल निमित्त भी होते ही हैं। इसलिये यह कथन भी असत्य नहीं है कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता, पर यह कथन निमित्त की अनिवार्य उपस्थिति मात्र को ही बताता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

निमित्त की अनिवार्य उपस्थिति मात्र से उसे कर्ता या साधकतम करण नहीं माना जा सकता है।

निमित्त सदा परपदार्थरूप ही होता है। जैसा कि निम्नांकित कथन से स्पष्ट है:—

"उपादान निजगुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।।[१]"

निमित्त को कर्ता या साधकतम करण मानने पर एक द्रव्य का कर्ता दूसरे को मानने से द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता का व्याघात होता है।

उक्त सन्दर्भ में जैनतत्त्वमीमांसा का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

---

१. बनारसीदास : उपादान-निमित्त दोहा, दोहा ४

"यदि केवल बाह्य निमित्तों के अनुसार वस्तुओं की — प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति मानी जाय तो प्रत्येक वस्तु को स्वरूप से ही परतंत्र मानने का प्रसंग उपस्थित होता है और ऐसी अवस्था में जीवों की स्वाश्रित बन्ध-मोक्ष व्यवस्था, परमाणुओं, धर्मादि चार द्रव्यों की स्वभावपर्यायें तथा अभव्यों और दूरांदूर भव्यों का निरन्तर संसारी बना रहना नहीं बन सकता।

इसलिये प्रत्येक द्रव्य में उसके अपने-अपने स्वभाव आदि के कारणस्वरूप ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिसके कारण प्रत्येक समय का उत्पाद-व्यय स्वयं होता है। प्रत्येक समय के पृथक्-पृथक् जो वस्तुनिष्ठ कारण हैं, उनकी ही आगम में निश्चय उपादान संज्ञा स्वीकर की गई है।[१]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिसमय के प्रत्येक कार्य का निश्चय उपादान सुनिश्चित है। इस सुनिश्चित व्यवस्था का अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभव के आधार पर अपलाप करना एक द्रव्याश्रित कार्य-कारणभाव को ही मटियामेट करना है। मैं तो इसे आगम की अवहेलना करनेरूप सबसे बड़ा अपराध मानता हूँ।[२]"

प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से ही परिणमनशील है। जब नित्य रहकर भी निरन्तर परिणमित होना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है तो फिर उसे अपने परिणमन में परद्रव्य की अपेक्षा ही क्यों हो? क्योंकि स्वभाव तो निरपेक्ष ही होता है। जो पर की अपेक्षा रखता हो, उसे स्वभाव कैसे माना जा सकता है?

निमित्तों को अंतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्त के रूप

---

१. जैनतत्त्वमीमांसा, पृष्ठ ७१

२. जैनतत्त्वमीमांसा, पृष्ठ ७१

में भी वर्गीकृत किया जाता है। मुख्य निमित्तों को अंतरंग निमित्त और गौण निमित्तों को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। कर्मबन्धन में आत्मा के रागादिभावों को अंतरंग निमित्त और मन-वचन-काय के व्यापार को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। इसीप्रकार पदार्थों के ज्ञान में ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम को अन्तरंग निमित्त एवं इन्द्रियाँ, प्रकाश आदि को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति में दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम, उपशम को अंतरंग निमित्त एवं गुरूपदेश को बहिरंग निमित्त कहा जाता है।

निमित्त चाहे अंतरंग हो या बहिरंग, पर हैं तो वे निमित्त ही, कार्य की उत्पत्ति में सभी निमित्तों की स्थिति लगभग एक समान ही है; अतः कोई भी निमित्त कर्ता या साधकतमकरण नहीं हो सकता है। यद्यपि आत्मा के रागादिभावों एवं कर्मों के उदय, क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम को अंतरंग निमित्त के रूप में ही निरूपित किया जाता है, तथापि इनके सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥"[१]

जीवकृतरागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर जीव से भिन्न अन्य पुद्गलस्कन्ध अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में परिणम जाते हैं। इसीप्रकार रागादिभावों रूप स्वयं

१. आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक १२-१३

ही परिणमित होते हुए आत्मा के पुद्गल कर्म का उदय निमित्तमात्र ही है।"

उक्त कथन में आचार्य अमृतचन्द्र ने 'स्वयमेव परिणमन्ते' पद द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान की योग्यतानुसार स्वयं ही परिणमित होता है, उसके परिणमन में अन्य पदार्थ तो मात्र निमित्त ही होते हैं।

उक्त सन्दर्भ में निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है:—

"प्रकृत में ऐसा समझना चाहिये कि जिसे आगम में निमित्त कहा गया है, अन्य के कार्य की उत्पत्ति में वह परमार्थ से अणु-मात्र भी सहायता नहीं करता, फिर भी उसकी सहायता के बिना कार्य हो ही नहीं सकता — ऐसा मानना ही अध्यवसानभाव है। इसी का प्रत्येक वस्तु अपने कार्यकाल में स्वयं निषेध करती है, क्योंकि जितनी जड़-चेतन वस्तुएं हैं, उनका परिणाम पर की अपेक्षा किये बिना स्वयं ही होता है। फिर भी भिन्न सत्ता के दो द्रव्यों में जो विशेषण-विशेष्यभाव, निमित्त-नैमित्तिक और आधार-आधेय सम्बन्ध माने गये हैं, वे मात्र असद्भूत व्यवहारनय से ही माने गये हैं। परमार्थ से उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसलिये जहाँ भी आगम में ऐसा कहा गया है कि क्रोध नामक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव में क्रोध की उत्पत्ति होती है, सो वहाँ उसे काल-प्रत्यासत्तिवश किया गया उपचरित कथन ही जानना चाहिये। अर्थात् उससमय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से निरपेक्ष होकर क्रोध नामक चारित्रमोहनीय परिणाम स्वयं ही उत्पन्न हुआ, न तो उक्त कर्म क्रोध की उत्पत्ति में परमार्थ से सहायक हुआ और न उक्त क्रोधभाव ही उक्त कर्म के उदय में परमार्थ से सहायक हुआ।

दोनों ने एक-दूसरे की अपेक्षा किये बिना ही अपना-अपना परिणाम किया। फिर भी काल-प्रत्यासत्तिवश प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर यह असद्भूत व्यवहार किया जाता है कि क्रोध कर्म के उदय से क्रोधभाव हुआ है।[१]

आशय यह है कि उपादान में कार्यरूप परिणमने की योग्यता होने पर वह स्वयं कार्यरूप परिणमता है और बाह्यसामग्री उसमें उसी समय निमित्त होती है; क्योंकि निमित्तपने को प्राप्त हुई बाह्यसामग्री और उपादानभूत द्रव्य के कार्य में नियम से बाह्यव्याप्ति होती है, इसी को काल-प्रत्यासत्ति कहते हैं।

यदि बाह्यसामग्री में कारणता भूतार्थ मानी जाय तो जैसे शुक अपनी सहज योग्यतावश बाह्यसामग्री के सद्भाव में पढ़ने लगता है, उसीप्रकार सहज योग्यता के अभाव में भी बाह्यसामग्री के बल से बक को भी पढ़ लेना चाहिये; किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी बाह्यनिमित्त के बल से बक नहीं पढ़ सकता और शुक पढ़ लेता है। इससे मालूम पड़ता है कि बाह्यसामग्री तो कार्य में निमित्तमात्र है; जो भी कार्य होता है, वह द्रव्य में पर्यायगत योग्यता के प्राप्त होने पर ही होता है।

इसीकारण भट्टाकलंकदेव ने दैव का लक्षण करते हुए अपनी अष्टशती टीका में लिखा है कि पुराकृतं कर्म योग्यता च दैवम् अर्थात् पहले किया गया कर्म और योग्यता इन दोनों को दैव कहते हैं।

देखो, १४वें गुणस्थान में असातावेदनीय का उदय तो

---

१. जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान, पृष्ठ ५६

है, पर तज्जन्य दुःख और उसका वेदन नहीं है; क्योंकि उस समय उस जीव में द्रव्य-पर्याय योग्यता का अभाव हो गया है। इसलिये सिद्धान्त यह फलित होता है कि बाह्यसामग्री का सद्भाव या क्रियाशीलता कार्य की नियामक नहीं होती। उपादानगत द्रव्य-पर्याय योग्यता ही कार्य की नियामक होती है, क्योंकि ऐसे उपादान के अनन्तर समय में नियम से कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है।[१]

इसलिये निष्कर्षरूप में यह समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य नित्यता के साथ स्वयं परिणामस्वभावी होने से अपना कार्य स्वयं ही करता है—यह यथार्थ है। कार्य के होने में जो निमित्तता स्वीकार की गई है, वह असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकर की गई है, परमार्थ से नहीं।

अतः निश्चयनय का कथन सम्यक् एकान्तरूप होने पर भी इससे अनेकान्त की ही प्रतिष्ठा होती है। जबकि असद्भूत व्यवहारनय के कथन के अनुसार पर की सहायता को यथार्थ मानने पर परमार्थ से वह अनेकान्त का घातक ही सिद्ध होता है।[२]"

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से 'कार्योत्पत्ति में उपादान और निमित्त का क्या स्थान है'—यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। पक्षव्यामोह से दूर रहकर विचार करने पर विवाद के लिये कोई स्थान नहीं रहता है। जिनवाणी का गहराई से अध्ययन नहीं करना ही तात्त्विक विवादों का मूल कारण है। अतः तात्त्विक विवादों से बचने का एकमात्र उपाय जिनवाणी का गहराई से स्वाध्याय करना ही है। न केवल तात्त्विक विवादों

---

१. जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान, पृष्ठ १०८

२. जैनतत्त्व समीक्षा का समाधान, पृष्ठ १२९

के सुलझाने के लिये, अपितु आत्मकल्याण के लिये भी प्राथमिक स्थिति में जिनवाणी ही परमशरण है।

आगम और परमागम के आलोक में किये गये उक्त अनुशीलन में निमित्त-उपादान का स्वरूप यद्यपि बहुत स्पष्ट हो गया है, तथापि कुछ प्रश्न आत्मार्थियों के चित्त को आंदोलित करते ही रहते हैं। उन प्रश्नों के यथासम्भव उत्तर भी यदि आगम और परमागम के आलोक में दिये जा सकें तो असंगत न होगा।

यह विचारकर ही आगामी प्रश्नोत्तर खण्ड में कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के संदर्भ में ऊहापोह अपेक्षित है।

पर तो निमित्तमात्र है

जबतक परपदार्थों में फेरफार करने की बुद्धिपूर्वक परोन्मुखी प्रवृत्तियाँ रहेंगी, तबतक सत्य को प्राप्त करना तो बहुत दूर, उसके निकट पहुँचना भी संभव नहीं है।

शुद्धात्मतत्त्वरूपी सत्य के साथ यह भी एक तथ्य है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, उसे अपने परिणमन में पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। फिर भी अज्ञानी आत्मा व्यर्थ ही पर के सहयोग की आकांक्षा से व्याकुल होता है। सत्य की प्राप्ति स्वयं से, स्वयं में, स्वयं के द्वारा ही होती है, उसमें पर की कुछ भी नहीं चलती। पर तो निमित्तमात्र है।

—सत्य की खोज, पृष्ठ-१३६

द्वितीय खण्ड

निमित्तोपादान : कुछ प्रश्नोत्तर

(१.) प्रश्नः—जिसप्रकार जबतक पुत्र न हो, तबतक किसी को पिता कहना संभव नहीं है; उसीप्रकार जबतक कार्य न हो, तबतक किसी को कारण कहना भी संभव नहीं है; क्योंकि कार्य के बिना कारण किसका? पुत्र के बिना पिता किसका?

ऐसी स्थिति में विचारणीय बात यह है कि सम्यग्दर्शनरूप कार्य तो करणलब्धि के अन्तिम समय में होता है और देशनालब्धिरूप कारण उसके बहुत समय पहले होता है। कम से कम अन्तर्मुहूर्त पहले तो होता ही है, अधिक से अधिक में तो भवपरिवर्तन भी हो सकता है, क्योंकि ऐसा भी होता है कि देशना पूर्वभव में प्राप्त हुई हो और सम्यग्दर्शन उत्तरभव में उत्पन्न हो। ऐसे सम्यग्दर्शन को ही निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

उक्त स्थिति में प्रश्न यह है कि यदि कार्य होने पर ही किसी को कारण माना जाय तो फिर सम्यग्दर्शनरूप कार्य का निमित्तकारण देशनालब्धि को अथवा गुरूपदेश को कैसे कहा जा सकता है?

उत्तरः—यद्यपि यह सत्य है कि कार्य के बिना किसी को कारण कहना संभव नहीं है, पुत्र के बिना किसी को पिता कहना संभव नहीं है; तथापि कार्य के पूर्व कारण की सत्ता से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है; क्योंकि पुत्र होने के पूर्व भी पिता की सत्ता तो थी ही, भले ही उसे पिता कहना संभव न हो।

उपदेश को निमित्तकारण भी तभी कहा जायगा, जबकि उस उपदेश से किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो; क्योंकि उस सम्यग्दर्शन रूप कार्य का ही तो वह कारण कहा जायगा। यदि किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही नहीं हुई तो उस उपदेश को किसका कारण कहा जाय?

यह सब होने पर भी जब किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; तब उपदेश की प्राप्तिरूप निमित्त नियम से उसके पूर्व ही होता है, उस समय नहीं। इसी से साबित होता है कि उपदेशरूप निमित्तकारण तो कार्य होने से पहले ही होता है, उस समय नहीं; भले ही उसे कारण आप तब कहें कि जब कार्य हो जाय।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अन्य कार्यों के समान सम्यग्दर्शनरूप कार्य के निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं— अंतरंग और बहिरंग। अंतरंगनिमित्त तो दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशमरूप अभाव है और बहिरंगनिमित्त है उपदेश की प्राप्ति। अंतरंग निमित्त तो कार्योत्पत्ति के काल में ही विद्यमान है; पर देशनालब्धिरूप बाह्यनिमित्त पहले ही हो चुका है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिसके अनुसार अंतरंग और बहिरंग दोनों ही निमित्त कारणों का कार्योत्पत्ति के काल में उपस्थित रहना अनिवार्य ही हो।

(२.) प्रश्न—यदि ऐसा हो तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि उपदेश को कारण तब कहेंगे कि जब सम्यग्दर्शनरूप कार्य उत्पन्न हो जाय?

उत्तर:—इसलिये कि ऐसा तो कोई नियम नहीं है कि उपदेश श्रवण से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो ही जावेगी; हो

भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ऐसा कहा जाता है कि उपदेश को कारण तब कहेंगे कि जब सुननेवाले को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाय।

वस्तुतः बात यह है कि ऐसा तो नियम है कि जब किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी तो उसके पूर्व उसे देशनालब्धि की प्राप्ति भी अवश्य होगी ही; पर ऐसा नियम नहीं है कि देशनालब्धि हो जाने पर नियम से सम्यग्दर्शन होगा ही। यही कारण है कि देशनालब्धिरूप कारण पहले से विद्यमान होने पर भी उसका कथन कार्योत्पत्ति के बाद ही किया जाता है।

(३.) प्रश्नः—यदि ऐसा है तो फिर तीर्थंकरों, साधु-संतों एवं ज्ञानियों की देशना को निमित्त कारण कहा जाय या नहीं ? शास्त्रों में तो इन सबको सम्यग्दर्शन का निमित्तकारण कहा गया है। जिनबिंब दर्शन को भी सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा गया है।

उत्तरः—सामान्य से तो तीर्थंकरों, साधु-संतों एवं ज्ञानियों के उपदेश एवं जिनबिंब दर्शन आदि को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा ही जाता है और कहा भी जाना चाहिये; पर वह कारण है किसको, उसी को न कि जिसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई हो। इसलिए जब उनके निमित्त से किसी व्यक्ति विशेष को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; तब उस सम्यग्दर्शनरूप कार्य का कारण उनके उपदेश को कहा जाता है। सामान्य और विशेष कथन में यह अन्तर पड़ता ही है।

(४.) प्रश्नः—जिनबिंबदर्शन को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा गया है, पर किसी कामी व्यक्ति को जिनबिंब की नग्नदशा

देखकर कामभाव की उत्पत्ति हो जाय तो क्या उस जिनबिंब को विकारोत्पत्ति का निमित्त भी कहा जायेगा?

उत्तरः—भाई, बात ऐसी है कि जिनबिम्ब तो मुख्यतः सम्यग्दर्शन या वैराग्य के ही निमित्त होते हैं और इसीकारण उनकी स्थापना भी की जाती है; तथापि किसी कामी को उन्हें देखकर कामभाव की उत्पत्ति हो गई हो, तो निमित्त-उपादान मीमांसा में तो उसे बहिरंग निमित्त कहा ही जायगा; पर सामान्यतः जिनबिंब को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही निमित्त कहा जाता है।

सामान्य कथन और विशेष कथन के अन्तर को पहिचानना चाहिये। वैसे तो वेश्या विकार का ही निमित्त मानी गई है, पर किसी को वेश्या की वृत्ति देखकर वैराग्य हो जावे, तो क्या वेश्याओं को वैराग्य का निमित्त मानकर उन्हें धर्मस्थानों में स्थान दिया जायगा?

नहीं, कदापि नहीं; धर्मस्थानों में तो वैराग्य के निमित्तों के रूप में वीतरागी जिनबिंबों को ही स्थापित किया जाता है और किया जाता रहेगा।

(५.) प्रश्नः—आप कहें चाहे न कहें, पर वह वेश्या वैराग्य की निमित्त तो बन ही गई। इसीप्रकार वह वीतरागी नग्न दिगम्बर जिनबिंब भी विकार का निमित्त बन गया।

उत्तरः—उस कार्य में उसकी निमित्तता से कौन इन्कार करता है; पर जब सदुनिमित्तों की संगति में रहने की बात कही जायगी तो वैराग्य के लिये ज्ञानी धर्मात्माओं की संगति में रहने का ही उपदेश दिया जायगा; किसी वेश्या की संगति में रहने का नहीं।

मुख्यतः तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही वैराग्य में निमित्त होते हैं, वेश्यादिक नहीं। वेश्या का वैराग्य में निमित्त बन जाना तो एक अपवाद है। अपवादों के अनुसार जगत का व्यवहार नहीं चलता।

जिसके उपादान की जोरदार तैयारी हो, उसके लिये वेश्या भी वैराग्य का निमित्त बन जाती है। ऐसी घटनाओं से वेश्यारूप निमित्त की महिमा नहीं आना चाहिये, अपितु उपादान की विशेषता समझ में आना चाहिये, अधिक उपादान की महिमा आना चाहिये।

वस्तुतः कार्य तो उपादान की पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही सम्पन्न होता है; निमित्त की तो मात्र अनुकूलता के रूप से उपस्थिति ही रहती है।

निमित्तों का कथन जिनागम में अनेक प्रकार से प्राप्त होता है। सर्वत्र उसकी अपेक्षा को समझना चाहिये, अन्यथा चित्त में अनेक भ्रम खड़े हो सकते हैं। चित्त में अनेक प्रकार के भ्रम खड़े न हों, वृत्ति में चंचलता न आवे; इसके लिये निमित्त-उपादान का स्वरूप गहराई से समझना चाहिये।

(६.) प्रश्नः—यह विषय तो बहुत कठिन लगता है। यह सब तो विद्वानों के समझने के विषय हैं। सामान्य जनता को निमित्त-उपादान से क्या लेना-देना?

उत्तरः—वैसे थोड़ी-बहुत कठिनाई तो सभी विषयों के समझने में होती है। कोई भी विषय क्यों न हो, जबतक उसकी गहराई में नहीं जावेंगे, वह समझ में नहीं आवेगा। हम यों ही चलते-फिरते किसी विषय को समझना चाहें तो यह तो सम्भव नहीं है; पर ऐसी बात भी नहीं है कि हम

थोड़ा उपयोग को सूक्ष्म करें और यह विषय समझ में नहीं आवे। उपयोग को सूक्ष्म करके रुचिपूर्वक समझने का प्रयास करें तो यह विषय भी सबकी समझ में आ सकता है।

यह सोचना ही सबसे बड़ी बाधा है कि यह तो विद्वानों का विषय है, सामान्य जनता को इससे क्या लेना-देना? क्या सामान्य जनता को अपना कल्याण नहीं करना है? यदि उसे अपना कल्याण करना है तो उसे भी यह सब समझना ही होगा।

यदि इसका सम्बन्ध आत्मकल्याण से नहीं हो तो फिर विद्वान भी इसके समझने में अपना समय क्यों खराब करें? क्या उनके समय की कोई कीमत नहीं है; जो वे अपना समय अनावश्यक अनुपयोगी विषयों की माथापच्ची में बर्बाद करें?

आत्मकल्याण करने के लिये इस विषय का समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसे समझे बिना आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। करुणासागर आचार्यों ने जिनवाणी में इस विषय का विवेचन मुक्तिमार्ग में अत्यन्त उपयोगी जानकर ही किया है। अतः इसके समझने में आनेवाली थोड़ी-बहुत कठिनाई को देखकर घबड़ाना नहीं चाहिये, घबड़ाकर इसे यों ही नहीं छोड़ देना चाहिये, इसके समझने से मुख नहीं मोड़ना चाहिये; अपितु इस विषय को अत्यन्त उपयोगी जानकर इसे समझने में पूरी शक्ति लगाना चाहिये, समय लगाना चाहिये, उपयोग लगाना चाहिये।

(७.) प्रश्नः—आप ही तो कहते हो कि यदि अपना कल्याण करना है तो आत्मा को जानो, पहिचानो और उसी में जम जावो, रम जावो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है। इसमें निमित्त-उपादान समझने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर:—आत्मा का कल्याण भी एक कार्य है, अपने को जानना-पहिचानना भी एक कार्य है, अपने में जमना-रमना भी एक कार्य है; और कोई भी कार्य कारण के बिना सम्पन्न नहीं होता। निमित्त और उपादान कारणों के ही प्रकार हैं। अतः आत्मकल्याण के लिये, अपने को जानने-पहिचानने के लिये, अपने में जमने-रमने के लिये उनका स्वरूप अच्छी तरह जानना अत्यन्त आवश्यक है।

निमित्त और उपादान का सही स्वरूप नहीं समझने के कारण आत्मकल्याणरूप कार्य करने के लिये भी यह आत्मा परपदार्थों के सहयोग की आकांक्षा से पर की ओर ही झांका करता है; स्वयं की ओर देखता तक नहीं। अतः यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि अपने आत्मा के कल्याण का कार्य तो स्वयं के आश्रय से, स्वयं की पात्रता से, स्वयं में ही सम्पन्न होता है; परपदार्थ तो उसमें मात्र निमित्त ही होते हैं।

जब द्रव्यस्वभाव में पर्यायगत पात्रता का परिपाक होता है तो निमित्त भी सहज ही उपस्थित रहते हैं। अतः निमित्तों पर से दृष्टि हटाकर त्रिकाली उपादान, जो कि निज त्रिकाली ध्रुव परमात्मा है; उस पर दृष्टि को केन्द्रित करना ही आत्मानुभव का मार्ग है।

यह कार्य भी पर्यायगत योग्यता के सद्भाव में सहजभाव से ही सम्पन्न होता है; इसके लिये भी आकुलित होने से कोई कार्य नहीं होता; प्रत्येक कार्य स्वसमय में स्वयं की योग्यतारूप उपादानकारण से ही सम्पन्न होता है और जब कार्य होता है तो तदनुकूल निमित्त भी होते ही हैं, उन्हें खोजने नहीं जाना पड़ता।

इसप्रकार आत्मकल्याणरूप कार्य में निमित्त-उपादान की

संधि का सम्यक्ज्ञान हो जाने पर दृष्टि परपदार्थों से हटकर स्वभावसम्मुख होती है और आत्मानुभूति प्रगट होती है। आत्मानुभूति के काल में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्तिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

(८) प्रश्नः—जब प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में उपादान के साथ-साथ निमित्त भी तो होता ही है, तब उसकी ओर ध्यान क्यों नहीं देना, उसकी खोज क्यों नहीं करनी?

उत्तरः—जब यह सुनिश्चित ही है कि प्रत्येक कार्य में निमित्त होता ही है तो फिर उसकी खोज करने की क्या आवश्यकता है? प्रत्येक पदार्थ जब पर्यायगत योग्यता के कारण विवक्षित पर्यायें धारण करता है, तब उसके योग्य निमित्त भी होता ही है। जब भगवान महावीर का जीव सोलहवें स्वर्ग से चलकर तीर्थंकर रूप में मनुष्यभव धारण कर रहा था तो माँ के रूप में त्रिशला और पिता के रूप में सिद्धार्थ सहजभाव से उपस्थित ही थे।

क्या महावीर के जीव ने उनकी खोज की थी? कोई भी व्यक्ति जब मनुष्यभव धारण करता है तो बिना माँ-बाप के तो धारण करता नहीं; पर क्या उन्हें माँ-बाप की खोज करनी पड़ती है? क्या किसी ने भी आजतक ऐसा किया है या सबकुछ सहजभाव से ही चलता रहता है?

जिसप्रकार माँ-बाप की खोज के बिना ही प्रत्येक मानव को जन्म के काल में अपनी योग्यतानुसार माँ-बाप उपलब्ध रहते ही हैं; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को आत्मानुभूति के काल में या उसके पूर्व में सुयोग्य निमित्त सहजभाव से उपलब्ध रहते ही हैं, उन्हें खोजने कहीं नहीं जाना पड़ता।

महावीर के जीव की शेर की पर्याय में जब पात्रता पकी

तो निमित्तरूप में युगल मुनिराज सहजभाव से उपस्थित ही थे। उनका संयोग मिलाने के लिये शेर ने क्या प्रयत्न किया था? ज्ञानियों के सम्पर्क में जीवनभर निरन्तर रहनेवाले लोग क्या सभी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही लेते हैं? हमने और आपने ऐसे अनेक लोगों को देखा है कि जो जीवनभर ज्ञानियों के सम्पर्क में रहे, उनकी सेवा करते रहे, पर कुछ भी हाथ नहीं लगा।

(९.) प्रश्नः—यदि ज्ञानियों के समागम में भी किसी को कुछ उपलब्ध नहीं हुआ, तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि हमें सत्संगति नहीं करनी चाहिये?

उत्तरः—नहीं, यह अर्थ तो कदापि नहीं है। सत्समागम में रहना तो जीवन का सौभाग्य है; क्योंकि सत्संगति की रुचि न केवल हमारे उज्वल भविष्य की सूचक है, अपितु वर्तमान के निर्मल परिणामों को भी बताती है। यदि हमारे परिणाम वर्तमान में ही विकृत होते तो हम असत् लोगों के समागम में ही रहना पसन्द करते।

सत्समागम अच्छी बात होने पर भी सबकुछ सत्समागम से ही हो जानेवाला नहीं है। सत्समागम तो निमित्तमात्र है, जबतक हमारे अन्तर की तैयारी नहीं होगी, उपादानगत योग्यता का परिपाक नहीं होगा, दृष्टि स्वभावसन्मुख नहीं होगी; तबतक आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होनेवाला नहीं है। इस बात को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

जीवनभर सत्समागम में रहने पर भी आत्मलाभ की प्राप्ति नहीं हुई—इसका भी एकमात्र यही कारण है कि उनकी दृष्टि सत्समागम पर ही रही, स्वभाव के सन्मुख नहीं हुई। अतः सत्समागम में रहना तो अच्छा है, पर उसके लिये भी व्यग्र

होने की आवश्यकता नहीं है। जिसका जितना महत्त्व है, हमें उतना अवश्य स्वीकार करना चाहिये; पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिसप्रकार सत्समागम के महत्त्व को अस्वीकार करने में हानि है, उससे अधिक हानि उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने में है।

वास्तविक सत् तो अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही है, उसके समागम में ही सत् का लाभ होनेवाला है। उसकी संगति ही वास्तविक सत्संगति है। हमारी श्रद्धा का श्रद्धेय (दृष्टि का विषय) ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय तो त्रिकाली सत् निज भगवान आत्मा ही बनना चाहिये।

उस त्रिकाली ध्रुवरूप सत् का स्वरूप बतानेवाले ज्ञानी धर्मात्मा ही सत्पुरुष कहलाते हैं। उनकी संगति को भी सत्संगति कहते हैं। बाकी पुण्य-पाप के प्रपंच में उलझे हुए लोग न तो सत्पुरुष हैं और न उनकी संगति सत्संगति ही है।

निश्चय सत्संगति तो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का ही नाम है; पर आत्मा का स्वरूप बतानेवाले आत्मानुभव की प्रेरणा देनेवाले, आत्मानुभवी पुरुषों की संगति को, उनसे त्रिकाली भगवान आत्मा का स्वरूप सुनने को व्यवहार से सत्संगति कहते हैं; मात्र उनकी सेवा-टहल करते रहने को तो व्यवहार से भी सत्संगति नहीं कहा जा सकता है।

अतः हमारा तो यही कहना है कि निश्चय सत्समागम के उद्देश्य से व्यवहार सत्समागम करना भी अच्छा ही है।

(१०.) प्रश्नः—क्या त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का स्वरूप बतानेवाले ही सज्जन हैं, सत्पुरुष हैं; शेष सब सज्जन

नहीं हैं, सत्पुरुष नहीं हैं? लोक में तो ऐसे हजारों महापुरुष हैं और हो गये हैं कि जो लोगों को दया-दान का उपदेश देते हैं, परोपकार की प्रेरणा देते हैं; यहाँ तक कि जिन्होंने जगत के लोगों की सुख-सुविधा के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन ही समर्पित कर दिया है। क्या वे सज्जन नहीं हैं, क्या वे सत्पुरुष नहीं हैं?

उत्तरः—क्यों नही, वे भी सज्जन हैं; पर वे सब लौकिक सज्जन हैं। किन्तु यहाँ बात लोकोत्तर मार्ग की चल रही है। लोकोत्तर मार्ग में तो उन्हीं को सत्पुरुष कहा जाता है, जो मुक्ति के मार्ग पर स्वयं चलते हों और जगत को भी मुक्ति का मार्ग बताते हों, जगत को मुक्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हों।

मुक्ति के मार्ग पर चलने की क्रिया-प्रक्रिया स्वाधीन क्रिया है, स्वाधीन प्रक्रिया है; अतः वह उपादान के आश्रय से ही सम्पन्न होती है, निमित्त के आश्रय से नहीं। आत्मकल्याण का महान काम जिस उपादान के आश्रय से, जिस उपादान को ध्यान का ध्येय और श्रद्धान का श्रद्धेय बनाने से सम्पन्न होता है; वह त्रिकाली उपादान तो प्रत्येक व्यक्ति का स्वयं का त्रिकाली निज भगवान आत्मा ही है। उसे ही ध्येय बनानेवाली ध्यानपर्याय, उसे ही ज्ञेय बनानेवाली ज्ञानपर्याय और उसमें ही अपनापन स्थापित करनेवाली श्रद्धानपर्याय क्षणिक उपादान है।

अतः त्रिकाली उपादानरूप निज भगवान आत्मा का स्वरूप बतानेवाले ज्ञानी पुरुष ही वे सत्पुरुष हैं; जिनका उपदेश मुक्ति के मार्ग में निमित्त बनता है तथा इसीकारण वे भी निमित्त कहलाते हैं। पर ध्यान रहे उनका भी वही उपदेश

वास्तविक निमित्त है, जो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये दिया गया हो, आत्मा के अनुभव करने की प्रेरणा के लिये दिया गया हो और उसके कारण ही उन्हें मुक्ति के मार्ग में निमित्तरूप से स्वीकार किया गया है।

जिन लोगों को उस त्रिकाली ध्रुव परमात्मा का परिचय ही नहीं है, जिनकी वाणी में उसकी चर्चा तक नहीं आती; अपितु जो उसका नाम सुनकर, उसकी चर्चा सुनकर भड़क उठते हैं, उद्वेलित हो जाते हैं, अशान्त हो जाते हैं; उसकी चर्चा करनेवालों को भला-बुरा कहने लगते हैं; उनके लिये तो अभी दिल्ली बहुत दूर है, वे स्वयं ही उस परमतत्व से अपरिचित हैं; अतः वे मुक्तिमार्ग के सत्पुरुष कैसे हो सकते हैं?

जिन्हें त्रिकाली सत् का परिचय नहीं, वे सत्पुरुष नहीं; उनकी संगति भी सत्संगति नहीं है।

मुक्ति के अभिलाषी आत्मार्थी को सत्संगति तो अवश्य करना चाहिये, पर सत्संगति का सच्चा स्वरूप समझकर सत्पुरुष की पहिचान कर ही उसके प्रति समर्पित होना चाहिये; अन्यथा भ्रमित हो जाने की संभावना भी कम नहीं है।

सत्पुरुष की सच्ची पहिचान ही यही है कि जो त्रिकाली ध्रुवरूप निज परमात्मा का स्वरूप बताये और उसी के शरण में जाने की प्रेरणा दे, वही सत्पुरुष है। दुनियादारी में उलझानेवाले, जगत के प्रपंच में फंसानेवाले पुरुष कितने ही सज्जन क्यों न हों, सत्पुरुष नहीं हैं— इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

इस बात का भी ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि हम

सत्संगति के नाम पर असत्संगति में ही न पड़े रहें; अन्यथा यह अत्यधिक मूल्यवान मानव जीवन यों ही चला जायेगा, भव का अन्त नहीं आवेगा। भव का अन्त लाना हो तो निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर त्रिकाली उपादानरूप निज स्वभाव का आश्रय लो और उसका स्वरूप समझानेवाले, उसी में जम जाने और रम जाने की प्रेरणा देनेवाले सत्पुरुष की संगति करो, समागम करो, शरण में जावो; यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।

(११.) **प्रश्नः**—आप तो कह रहे हैं कि निज भगवान आत्मा का स्वरूप बतानेवाले सत्पुरुष ही एकमात्र निमित्त हैं, पर हमने तो सुना है कि कुम्हार भी निमित्त होता है?

उत्तरः—तुमने ठीक ही सुना है; क्योंकि कुम्हार भी निमित्त तो होता ही है, पर किस कार्य का? मिट्टी के घड़े बनने में कुम्हार निमित्त होता है। घड़ा एक कार्य है और उसका उपादानकारण मिट्टी है और निमित्तकारण कुम्हार—यह बात तो आरम्भ में ही स्पष्ट की जा चुकी है। पर यहाँ तो सम्यग्दर्शनरूप कार्य की बात चल रही है। मोक्षमहल की प्रथमसीढ़ीरूप जो सम्यग्दर्शनरूप कार्य है, उसका उपादान तो भगवान आत्मा या उसका श्रद्धागुण ही है और निमित्त सत्पुरुष का त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का स्वरूप बतानेवाला उपदेश है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणों के रूप में जिनागम में जो पाँच लब्धियों की चर्चा आती है; उनमें एक देशनालब्धि भी है। वह देशनालब्धि आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली सत्पुरुष की वाणी के रूप में ही उपलब्ध होती है। उसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बहिरंग निमित्त के रूप में स्वीकार

किया गया है; क्योंकि अन्तरंग निमित्त तो दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होता है।

निमित्त और उपादान तो कारणों के प्रकार हैं; अतः वे तो प्रत्येक कार्य पर घटित होते हैं। जिनागम में आचार्यों ने घट और कुम्हार के उदाहरण से निमित्त-नैमित्तिक संबंध को समझाने का प्रयास किया है। पर वह तो एक उदाहरण मात्र है, वस्तुतः तो प्रत्येक कार्य के अपने-अपने जुदे-जुदे उपादान-निमित्त होते हैं। कार्योत्पत्ति की प्रक्रिया समझने के लिये इन दोनों को ही प्रत्येक कार्य पर घटित करके देखना चाहिये। पर यहाँ अध्यात्म का प्रकरण है; अतः सम्यग्दर्शनरूप कार्य पर उपादान-निमित्त को घटित किया जा रहा है। यह विचार किया जा रहा है कि यदि हमें सम्यग्दर्शनरूप कार्य की उपलब्धि करना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो क्या करना चाहिये।

इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि सम्यग्दर्शनरूप कार्य का कारण जो त्रिकाली उपादानरूप ध्रुव निज भगवान आत्मा है, उसके आश्रय से ही मिथ्यादर्शन पर्याय का अभाव करती हुई सम्यग्दर्शन पर्याय स्वकाल में प्रगट होती है। जब सम्यग्दर्शनरूप पर्याय प्रगट होती है, तब मिथ्यात्व नामक कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशम रूप अभाव नियम से होता है। तथा उसके पूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले उस आत्मा को किसी ज्ञानी सत्पुरुष से भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले उपदेश का लाभ भी अवश्य प्राप्त होता है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शनरूप कार्य में मिथ्यात्व कर्म के उदय का अभाव अन्तरंग निमित्त है और सत्पुरुष का उपदेश बहिरंग निमित्त है।

(१२.) प्रश्नः—जब सम्यग्दर्शन के पूर्व देशनालब्धि भी होती ही है और उसमें निमित्त सत्पुरुष का उपदेश ही होता है तो फिर सत्पुरुष की खोज तो करनी होगी, सत्पुरुष की पहिचान भी करनी हो होगी; फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिये ?

उत्तरः—हाँ, सत्पुरुष की पहिचान तो करना ही चाहिये। बिना सच्ची पहिचान के तो पग-पग पर ठगाये जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसीकारण सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है; क्योंकि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान बिना तो सन्मार्ग पर लगना ही सम्भव नहीं है।

आत्मार्थी भाई-बहिन ज्ञानी सत्पुरुषों की खोज भी सहजभाव से करते ही हैं। न तो सत्पुरुषों की पहिचान का ही निषेध है और न खोज का ही; पर खोज में व्यग्र होने का निषेध तो है ही। व्यग्रता को तो किसी भी रूप में ठीक नहीं माना जा सकता है।

वस्तुतः बात यह है कि उपादान और निमित्त का एक सुमेल होता है। जब उपादान की तैयारी होती है अर्थात् पर्याय की पात्रता पकती है; तब सत्पुरुष का समागम भी सहज ही प्राप्त होता है, सत्पुरुष की खोज भी सहज ही सफल होती है; कुछ भी असहज नही होता, सबकुछ सहज ही होता है।

त्रिकाली सत् की रुचि में सत्पुरुष की खोज की प्रक्रिया सहज सम्पन्न होती है, व्यग्रता से कुछ नहीं होता। आत्महित का मार्ग तो सहज का धंधा है। सत्पुरुष की शोध भी सहज और त्रिकाली ध्रुव की अनुभूति—प्रतीति भी सहज; सबकुछ सहज ही सहज है।

जब संसार-सागर का किनारा निकट आ जाता है, तब सहज ही आत्मा की रुचि जागृत होती है। आत्मरुचि भगवान आत्मा और आत्मज्ञ सत्पुरुष की शोध की ओर पुरुषार्थ को प्रेरित करती है। सत्पुरुष के समागम से आत्मरुचि को अभूतपूर्व बल प्राप्त होता है; अध्ययन, मनन, चिन्तन की प्रक्रिया पर से विमुख हो स्वोन्मुख हो जाती है। रुचि की तीव्रता और पुरुषार्थ की प्रबलता दृष्टि को स्वभावसन्मुख तो करती ही है, ज्ञान व ध्यानपर्याय को भी आत्मोन्मुख करती है और यह निमित्त-उपादान का सहज सुमेल देशनालब्धि से करणलब्धि की ओर ढलता हुआ सम्यग्दर्शन पर्याय प्राप्त करने की सशक्त भूमिका तैयार कर देता है।

यह सबकुछ सहज ही होता है; इसीलिये कहा गया है कि आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिये।

क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि धारक पुरुष को सन्मार्ग की प्राप्ति का विकल्प तो होता ही है, तदर्थ शोध-खोज का होना भी स्वाभाविक ही है। इसी प्रक्रिया में सत्पुरुष की शोध-खोज भी होती है, काललब्धि के अनुसार उपलब्धि भी होती ही है। सद्गुरु की उपलब्धि और उसके उपदेश की प्राप्ति के उपरान्त भी जबतक करणलब्धि के परिणामों की पात्रता नहीं पकती; तबतक अध्ययन, मनन, चिन्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है। यह काल अन्तर्मुहूर्त भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता है; पर यह सबकुछ बिना तनाव के अत्यन्त सहजभाव से चलता रहता है और सहजभाव से ही चलते रहना चाहिये; क्योंकि मुक्ति का मार्ग शान्ति का मार्ग है, तनाव का नहीं, व्यग्रता का नहीं।

(१३.) **प्रश्नः**—जब कार्य की उत्पत्ति में पंच समवायों का सहज समेल होता है, निमित्त-उपादान का भी सहज सुमेल होता है; तब फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि निमित्ताधीन दृष्टि छोड़ो, त्रिकाली उपादानरूप निज भगवान आत्मा का आश्रय लो?

उत्तरः—निमित्त 'पर' है, उस पर दृष्टि रखने से दृष्टि पराधीन होती है। त्रिकाली उपादानरूप निज भगवान आत्मा 'स्व' है, उस पर दृष्टि रखने से दृष्टि स्वाधीन होती है। पराधीनता ही दुःख है और स्वाधीनता ही सुख है; अतः सुखार्थी को तो स्वाधीनता ही श्रेयस्कर है।

वस्तुतः बात यह है कि जब करणलब्धि के अन्त समय में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तब ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र आदि सभी गुणों की परिणति आत्मसन्मुख होती है; उस समय त्रिकाली निज भगवान आत्मा ही ज्ञान का ज्ञेय होता है, श्रद्धान का श्रद्धेय होता है; ध्यान का ध्येय होता है।

जिसप्रकार अनुभूति के काल में सभी गुणों की परिणति आत्मसन्मुख होती है, उसीप्रकार सभी गुणों की परिणति में निर्मलता भी प्रगट होती है; इसीकारण कहा जाता है कि **"सर्व गुणांश समकित"**। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मा के सम्पूर्ण गुणों के अंशों में स्फुरायमान होता है। ज्ञानगुण की परिणति सम्यग्ज्ञानरूप हो जाती है, श्रद्धागुण की परिणति सम्यग्दर्शनरूप हो जाती है; चारित्रगुण की परिणति सम्यक्चारित्ररूप हो जाती है। आनन्द (सुख) गुण में भी अतीन्द्रिय आनन्द उमड़ पड़ता है। आखिर अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड सम्पूर्ण आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है न?

(१४.) प्रश्नः—यह तो ठीक, पर जिस सत्पुरुष ने हमें सुखी होने का मार्ग बताया, सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उपाय बताया; उसी की यह उपेक्षा तो ठीक नहीं, उसे भी दृष्टि से ओझल कर देना क्या कृतघ्नता नहीं है?

उत्तरः—नहीं, यह कृतघ्नता नहीं है, अपितु सच्ची कृतज्ञता है; क्योंकि वह सत्पुरुष भी तो यही चाहता है कि तुम दृष्टि को सम्पूर्ण जगत से हटाकर स्वभावसन्मुख करो। अतः यह तो उसी की आज्ञा का पालन हुआ। तुम्हीं बताओ कि गुरुजी का आज्ञा का पालन करनेवाला शिष्य कृतघ्नी होता है या कृतज्ञ?

गुरु द्रोणाचार्य जब अपने शिष्यों की परीक्षा ले रहे थे, तब वृक्ष की टहनी पर स्थित कृत्रिम चिड़िया की आँख को भेदन करने का आदेश देते हुए उन्होंने अपने सभी शिष्यों से यही एक सवाल किया था कि तुम्हें क्या दिख रहा है अर्थात् तुम्हारी दृष्टि में क्या है?

जिन लोगों ने यह उत्तर दिया कि हमें सब दिखाई दे रहा है—वृक्ष, डाली, चिड़िया, उसकी आँख और गुरुजी आप भी। गुरुजी ने उन सभी को बिना बाण चलाये ही नापास कर दिया और अर्जुन के कहने पर कि सिर्फ चिड़िया की आँख और कुछ नहीं।

गुरुजी ने फिर पूछा— "मैं भी नहीं"

"हाँ, आप भी नहीं"; — अर्जुन के इतना कहते ही गुरुजी ने कहा— "छोड़ो बाण"

बाण छूटा और जाकर अपने सही निशाने पर लगा।

गुरुजी उसी अर्जुन से प्रसन्न हुए, जिसने दृढ़तापूर्वक कह

दिया कि आप भी नहीं दिखते। न केवल कहा, अपितु सचमुच ही उसने दृष्टि के विषय में से उस समय गुरुजी को भी पृथक् कर ही दिया था। लक्ष्यभेद का यही एक उपाय है। अर्जुन का कृत्य गुरु की उपेक्षा नहीं, सर्वाधिक सम्मान था; क्योंकि उसने सच्चे अर्थों में गुरुजी की आज्ञा का पालन किया था।

जब लौकिक कार्य की सिद्धि में भी, लक्ष्यभेद में भी गुरु को दृष्टि में से निकालना अनिवार्य हो जाता है तो फिर आत्मसिद्धि जैसे महानकार्य में गुरुदेव को दृष्टि के विषय में कैसे रखा जा सकता है?

गुरुदेव के बताये मार्ग पर चलकर उस लक्ष्य की प्राप्ति करना कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गुरुदेव ने निर्देश दिया है, मार्ग बताया है; सद्गुरु का सच्चा सम्मान है, इसमें उनकी उपेक्षा तो रंचमात्र ही नहीं है। कोई गुरु नहीं चाहता कि उसका शिष्य निरन्तर उसका ही मुँह ताकता रहे या उसकी ही स्तुति गान में लगा रहे और जिस भगवान आत्मा का स्वरूप उसे समझाया गया है, उसकी आराधना में तत्पर ही न हो।

सच्चे शिष्य के हृदय में भी गुरु का समुचित स्थान और सम्मान तो सदा रहता ही है और समय-समय पर वह अभिव्यक्त भी होता ही रहता है; पर अनुभव के काल में तो वे ज्ञान के भी ज्ञेय नहीं रहते – यह भी परमसत्य है। इस बात को भी हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

लक्ष्यभेद के लिये सन्नद्ध होने के पूर्व भी वह गुरु का स्मरण कर सकता है, करता है; लक्ष्यभेद के बाद भी कर

सकता, करता है; पर लक्ष्यभेद के काल में कदापि नहीं। इसीप्रकार आत्मानुभूति के लिये सन्नद्ध होने के पूर्व एवं आत्मानुभूति के बाद शुभोपयोग में आने पर गुरु का स्मरण सम्भव है, पर आत्मानुभूति के काल में तो कदापि नहीं।

(१५.) प्रश्नः—गुरु का स्मरण आगे-पीछे ही क्यों, अनुभूति के काल में क्यों नहीं? आखिर निमित्त की यह उपेक्षा क्यों?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कार्य तो अपने में ही होना है, उपादान में ही होना है; गुरु में नहीं, निमित्त में नहीं; अपने आश्रय से ही होना है, गुरु के आश्रय से नहीं। गुरु तो मार्गदर्शक मात्र हैं, निमित्त मात्र हैं। न उनमें कुछ होना है न उनसे कुछ होना है, जो कुछ होना है, अपने में ही होना है अपने से ही होना है, अपने आश्रय से ही होना है। उन्हें तो जो कुछ बताना था, समझाना था; बता दिया, समझा दिया और आपने समझ लिया। अब आप अपना कार्य करिये, गुरुजी को क्यों अपने साथ रखना चाहते हैं, उपयोग में भी क्यों रखना चाहते हैं?

बारीकी से विचार करें तो क्षयोपशमज्ञान वालों के एक समय में एक ही वस्तु उपयोग में रहती है। अतः जबतक गुरुजी भी उपयोग में रहेंगे, ज्ञान का ज्ञेय बने रहेंगे; तबतक दृष्टि का विषय भगवान आत्मा ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनेगा। जबतक त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनेगा, ध्यान का ध्येय नहीं बनेगा, श्रद्धान का श्रद्धेय नहीं बनेगा; तबतक आत्मानुभूति होनेवाली नहीं है, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनेवाली नहीं है; संवर होनेवाला नहीं है, धर्म का प्रारम्भ होनेवाला नहीं है।

धर्म के आरम्भ करने की विधि ही यह है कि पहले गुरूपदेशपूर्वक विकल्पात्मक क्षयोपशमज्ञान में निजशुद्धात्मतत्त्व का स्वरूप समझे, सम्यक् निर्णय करे; उसके उपरान्त गुरु आदि समस्त परपदार्थों से उपयोग हटाकर उपयोग को आत्मसन्मुख करे और आत्मा में ही तन्मय हो जावे। यह आत्मतन्मयता ही आत्मानुभूति का उपाय है, आत्मानुभूति है; यही धर्म का आरम्भ है, यही संवर है। निरन्तर वृद्धिंगत यह आत्मस्थिरता ही निर्जरा है और अनन्तकाल तक के लिये आत्मा में ही समा जाना ही वास्तविक मोक्ष है, जो अनन्तसुखस्वरूप है और प्राप्त करने के लिये एकमात्र परम-उपादेय है।

(१६.) प्रश्नः—अनुभूति के काल में न सही, पर आगे-पीछे तो बारम्बार गुरु के नाम का उल्लेख करना ही चाहिये न । पर आप पर यह आरोप लगाया जाता है कि आप दूसरों की अपेक्षा गुरुदेवश्री के नाम का उल्लेख कम करते हैं। इस संबंध में आपको क्या कहना है?

उत्तरः—कम करते हैं, पर करते तो हैं न? न करतें हों—ऐसी बात तो नहीं है न। अरे भाई! इन राग-द्वेष की बातों से क्या लाभ है?

हमारा तो इतना ही कहना है कि बात-बात में गुरु के नाम के उल्लेख को ही गुरुभक्ति समझने वालों और बात-बात में गुरु का नाम न लेने वालों को गुरुद्रोही कहने वालों को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्यों ने अपने गुरु के नाम का कहीं भी उल्लेख तक नहीं किया। क्या उनके कोई गुरु ही न रहे होंगे? क्या उनके हृदय में अपने गुरु

के प्रति श्रद्धा न होगी? ऐसा तो संभव ही नहीं है। अरे भाई! श्रद्धा तो हृदय की चीज है, वह दूसरों को दिखाने के लिये नहीं होती। श्रद्धा को भुनानेवाले लोग इस तथ्य को नहीं समझ सकते।

न तो हम यथासमय गुरुदेवश्री के नामोल्लेख से कभी चूकते ही हैं और न ही बात-बात में उन्हें बीच में लाकर उनके नाम को भुनाने की कोशिश ही करते हैं।

(१७.) प्रश्नः—प्राप्त करने के लिये परम-उपादेय अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिये निमित्त-उपादान के स्वरूप समझने की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि निमित्त-उपादान के स्वरूप समझने से वास्तविक लाभ क्या है; क्योंकि जबतक इसके वास्तविक लाभ और उपयोगिता ख्याल में नहीं आवेगी; तबतक इसके समझने के लिये रुचि जागृत नहीं होती, चित्त उल्लसित नहीं होता।

उत्तरः—यह कहना तो एकदम सत्य है कि जबतक किसी कार्य की उपयोगिता और लाभ स्पष्ट नजर नहीं आते; तबतक उस कार्य में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती और उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति के बिना कार्य में सफलता भी प्राप्त नहीं होती।

अतः निमित्त-उपादान के जानने की उपयोगिता और उनके जानने से होनेवाले लाभों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी के माथे पर सर्वाधिक बोझा कर्तृत्त्वबुद्धि का है। कर्तृत्त्व के अंहकार से ग्रस्त यह प्राणी निरन्तर कुछ न कुछ करता ही रहता है, करता ही रहना चाहता है और यह समझता है कि यदि मैं यह सब करना बन्द कर दूँ तो

न मालूम क्या हो जायेगा? मानो सबकुछ अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

इस कर्तृत्त्व के बोझ के नीचे प्रत्येक प्राणी दबा जा रहा और निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। इसे यह विचारने की फुर्सत नहीं है कि जिस बोझ से मैं दबा जा रहा हूँ, वह बोझा वास्तविक है या कोरी कल्पनामात्र है।

निमित्त-उपादान का स्वरूप समझने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के परिणमन का ही कर्ता है, अन्य पदार्थों के परिणमन में तो वह मात्र निमित्त ही होता है, करता-धरता कुछ भी नहीं है। इसप्रकार उसके माथे से पर के कर्तृत्व का बड़ा भारी बोझा सहज ही उतर जाता है और वह अपने-आप में बहुत हल्कापन अनुभव करता है।

इसीप्रकार जब वह यह जान लेता है कि मेरे भले-बुरे का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मेरा ही है; मेरे परिणमन में परपदार्थ तो निमित्तमात्र हैं; उनका कोई भी हस्तक्षेप मेरे में नहीं होता तो इस आत्मा का अनन्तभय तो समाप्त हो ही जाता है; दूसरों के प्रति होनेवाला द्वेषभाव भी कम हो जाता है, समाप्त-सा ही हो जाता है; क्योंकि दूसरे पदार्थों से द्वेष तो इसकारण ही होता था कि यह समझता था कि इसने मेरा बुरा किया है। जब इसने जान लिया कि मेरे बुरे होने में इसका रंचमात्र भी योगदान नहीं है तो सहजभाव से ही उसके प्रति द्वेष समाप्त हो जाता है।

इसीप्रकार जब यह जान लिया जाता है कि कोई परपदार्थ मेरा भला भी नहीं करता है, न ही कर सकता है तो फिर परपदार्थों के साथ रागभाव भी नहीं होता। परपदार्थों से

राग-द्वेष होने के पीछे मूल कारण तो यह मूढ़भाव—मिथ्यात्व होता है कि मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ, करता हूँ या परपदार्थ मेरा भला-बुरा कर सकते हैं, करते हैं।

यह मूढ़भाव ही अनन्त आकुलता का कारण हैं। निमित्त-उपादान का सच्चा स्वरूप समझ में आ जाने से यह मूढ़भाव समाप्त हो जाता है और फिर उस मूढ़भाव से होनेवाली आकुलता भी नहीं होती।

(१८.) **प्रश्नः**—मूढ़भाव अर्थात् मिथ्यात्व तो आत्मानुभूति के बिना समाप्त नहीं होता—ऐसा कहा जाता है; पर यहाँ आप कह रहे हैं कि निमित्त-उपादान की सच्ची समझ से ही मूढ़भाव समाप्त हो जाता है?

उत्तरः—निमित्त-उपादान का स्वरूप समझने से निमित्ताधीन दृष्टि समाप्त हो जाती है। दृष्टि निमित्तों पर से हटकर त्रिकाली उपादानरूप निजस्वभाव की ओर ढ़लती है। निजस्वभाव ही तो भगवान आत्मा है और भगवान आत्मा की ओर ढ़लती हुई दृष्टि ही आत्मानुभूति की पूर्ववर्ती प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से पार होती हुई ज्ञानपर्याय जब त्रिकालीध्रुव निजभगवान आत्मा को सीधी (प्रत्यक्ष) ज्ञेय बना लेती है, तभी आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है और उसीसमय मूढ़भाव—मिथ्यात्व समाप्त हो जाता है।

अतः यह कहना असंगत नहीं है कि निमित्त-उपादान की सच्ची समझ से मूढ़भाव—मिथ्यात्व समाप्त हो जाता है।

इसप्रकार आध्यात्मिक सुख-शान्ति का मूल उपाय निमित्त-उपादान संबंधी सच्ची समझ ही है। अतः इनका स्वरूप समझने में आलस नहीं करना चाहिये, कठिन कहकर

उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये; अपितु पूरी शक्ति लगाकर इन्हें समझने का प्रयास करना चाहिये।

(१९.) प्रश्नः—निमित्त-उपादान के समझने से आध्यात्मिक सुख-शान्ति की ही प्राप्ति होती है कि लौकिकदृष्टि से भी कुछ लाभ है? तात्पर्य यह है कि यदि आध्यात्मिक सुख-शान्ति ही प्राप्त होती है तो फिर आध्यात्मिक लोग ही इसमें उलझें; हम जैसे साधारण लोग इसे समझने में अपनी शक्ति क्यों लगायें, अपना समय क्यों खराब करें?

उत्तरः—अरे भाई! आध्यात्मिक सुख-शान्ति के अतिरिक्त लौकिक लाभ भी बहुत है, लौकिक शान्ति भी प्राप्त होती है; पर लौकिक लाभ बताने के पहले मैं यह कहना चाहता हूँ कि आध्यात्मिक सुख-शान्ति ही सच्ची सुख-शान्ति है; लौकिक सुख-शान्ति तो सिर का बोझा कंधे पर रखने के समान है। वह सच्ची शान्ति है ही नहीं।

"आध्यात्मिक लोग ही इसमें उलझें, हम जैसे साधारण लोग इसे समझने में अपनी शक्ति क्यों लगायें; अपना समय क्यों खराब करें"—अरे भाई! ऐसी बातें क्यों करते हो? आध्यात्मिक लोग कोई अलग नहीं होते, उनके अलग गांव नहीं बसे हैं; जो लोग सच्चा सुख चाहते हैं, शान्ति के इच्छुक हैं, अपनी आत्मा को जानना-पहिचानना चाहते हैं, इस दिशा में प्रयत्नशील हैं, सक्रिय हैं, सज्जन हैं; वे सभी आध्यात्मिक ही हैं।

"हम और आप साधारण नहीं हैं, सभी आत्मार्थी हैं, स्वयं भगवान हैं। स्वभाव से तो सभी भगवान हैं ही; पर्याय में भी अल्पकाल में ही दो-चार भवों में ही भगवान बननेवाले हैं।"— ऐसा क्यों नहीं सोचते। हीन भावना रखकर —"हम

तो साधारण जन हैं, लौकिक जन हैं;" — इसप्रकार की बातें करके निज भगवान आत्मा का अपमान क्यों करते हो? तीन लोक के नाथ इस महाप्रभु चैतन्यतत्त्व को दीन-हीन क्यों समझते हो? तुम तो अनन्तशक्तियों के संग्रहालय हो, अनन्तगुणों के गोदाम हो, ज्ञान के घनपिण्ड हो, आनन्द के रसकन्द हो; ऐसी हीन बातें करना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम पर्याय में अपनापन तोड़कर स्वभाव में अपनापन लाओ; तभी तुम्हारी यह दीनता समाप्त होगी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि निमित्त-उपादान के स्वरूप समझने में लगाये गये समय और शक्ति को तुम समय और शक्ति की बर्बादी समझते हो। मैं तुमसे ही पूछना चाहता हूँ कि उस समय और शक्ति को बचाकर तुम कहाँ लगाना चाहते हो? और वह कौन-सा स्थान है, जहाँ तुम अपने समय और शक्ति को लगाकर उसे सार्थक कर सकोगे?

निमित्त और उपादान की सच्ची समझ में लगाया गया उपयोग प्रकारान्तर से वीतरागी तत्वज्ञान में ही लगा है; इससे अच्छा उपयोग का उपयोग कोई दूसरा नहीं हो सकता। हाँ, आत्मानुभूति में लगा उपयोग इससे भी महान है; पर यह सब भी तो उसी के लिये है। अतः निमित्त-उपादान की समझ में लगा समय और शक्ति बर्बाद नहीं होती, अपितु सहस्त्रगुणी होकर फलती है।

निमित्त-उपादान की चर्चा में उपयोग को लगाना उपयोग को उलझाना नहीं है; सुलझाना है; यह उलझने का नहीं, सुलझने का मार्ग है।

"अनुकूल संयोग ही लौकिक लाभ हैं"— इस दृष्टि से विचार करें तो भी एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रत्येक

प्राणी को अनकूल संयोग स्वयं की उपादानगत योग्यता एवं शुभकर्मों के उदय के निमित्त से प्राप्त होते हैं। यदि इस बात को भी अच्छी तरह समझ लें तो फिर हम अनुकूल संयोगों के लिये, लौकिक सुखों के लिये भी किसी दूसरे व्यक्ति के सामने हाथ नहीं पसारेंगे, दीन-हीन होकर किसी की गुलामी स्वीकार नहीं करेंगे; सद्भाव एवं सत्कर्म करने के लिये ही प्रेरित होंगे।

इस संदर्भ में समयसार बंधाधिकार की निम्नांकित गाथाएँ (हिन्दी पद्यानुवाद) मननीय हैं :—

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो?
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुःख दे किस भाँति तब? ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब।
दुष्कर्म दे सकते न जब दुख दर्द दें किस भाँत तब? ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब? ॥
जो मरे या जो दुखी हों वे सब करम के उदय से।
'मैं दुःखी करता मारता' यह बात क्यों मिथ्या न हो? ॥
जो ना मरे या दुखी ना हो सब करम के उदय से।
'ना दुखी करता मारता' यह बात क्यों मिथ्या न हो? ॥
मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे॥[1]
मैं सुखी करता दुखी करता बाँधता या छोड़ता।
यह मान्यता है मूढमति मिथ्या निरर्थक जानना॥
जिय बंधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले?[2]

१. समयसार पद्यानुवाद, बंधाधिकार, गाथा-२५३ से २५९
२. समयसार पद्यानुवाद, बंधाधिकार, गाथा-२६६ व २६७

उक्त गाथाओं में जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि तुम्हारा परपदार्थों में कुछ भी नहीं चलता और तुम दूसरों को सुखी-दुखी कर सकते हो या बाँध-छोड़ सकते हो अथवा दूसरे तुम्हें सुखी-दुखी कर सकते हैं या बाँध-छोड़ सकते हैं— यह मान्यता एकदम झूठी है, निरर्थक है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी का जीवन-मरण और सुख-दुख उसकी पर्यायगत योग्यता एवं उसके कर्मोदयानुसार ही होते हैं।

यह सुनिश्चित हो जाने पर, पर के कर्तृत्व का अहंकार एवं पर से भय की भावना एकदम समाप्त हो जाती है। इसकारण लौकिक शान्ति भी प्राप्त होती है। पर के कर्तृत्व के विकल्पों के शमन से आध्यात्मिक कार्यों के लिये समय भी सहजभाव से उपलब्ध होने लगता है और लौकिक जीवन भी सुख-शान्तिमय हो जाता है।

(२०.) प्रश्नः—इसमें तो यह कहा गया है कि अपने पूर्व कर्मोदयानुसार संयोग प्राप्त होते हैं। इसमें विचारने की बात यह है कि कर्म भी तो निमित्त ही हैं; अतः निमित्तों से कुछ नहीं होता— यह बात कहाँ रही?

उत्तरः—अरे भाई! संयोग तो अपनी योग्यतानुसार ही होते हैं, कर्म तो उनमें निमित्तमात्र हैं। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि प्रत्येक प्राणी के संयोग-वियोगों में, सुख-दुख में; उपादान तो वह स्वयं है और निमित्त उसी के कर्मोदय हैं; तुझे उसमें कुछ नहीं करना है। यहाँ तो उसके निमित्त-उपादान दोनों बतलाकर उसके कर्तृत्व की चिन्ता से तुझे मुक्त किया जा रहा है। तू इस ओर तो ध्यान देता नहीं और उस कथन में से निमित्त का जोर निकालता है।

वह कथन निमित्त पर जोर डालने के लिये नहीं किया गया है, अपितु इसमें तो कर्तृत्व के बोझ से दबे इस प्राणी के बोझ को कम करने का प्रयास किया गया है।

कार्योत्पत्ति में निमित्त-उपादान का कितना, क्या और कैसा स्थान है—यह बात तो पहले बहुत स्पष्ट कर आये हैं। यहाँ भी तदनुसार ही समझना। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि तू निश्चिन्त रह, तुझे पर में कुछ नहीं करना है; उसके निमित्त-उपादान तुझ से जुदे हैं और वे अपना-अपना काम बखूबी निभा रहे हैं, तुझे वहाँ उलझने की जरूरत नहीं है।

अरे भाई, निमित्त और उपादन का सही स्वरूप समझने में लौकिक और पारलौकिक लाभ ही लाभ हैं; अतः उनके स्वरूप को समझने में उपयोग को लगा, तुझे निश्चित ही लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति की प्राप्ति होगी। अधिक संकल्प-विकल्पों में उलझने में कोई लाभ नहीं है।

निमित्त-उपादान के स्वरूप को स्पष्ट करने एवं उनके संबंध में उठने वाली शंकाओं-आशंकाओं के निराकरण में जो भी संभव था; प्रयास किया गया; अब और अधिक विस्तार से कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

अतः इस पावन भावना से विराम लेता हूँ कि सभी आत्मार्थीजन निमित्त-उपादान का सही स्वरूप समझकर लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करें।

ॐ शान्ति, शान्ति; शान्ति।

परिशिष्ट - १

उपादान-निमित्त दोहा

—कविवर पण्डित बनारसीदास

गुरु उपदेश निमित्त बिन उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन चलवे को आधीन ॥१॥

हों जाने था एक ही उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन पानी माँहि जहाज ॥२॥

ज्ञान नैन किरिया चरण दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहाँ तहाँ निमित्त व्यवहार॥३॥

उपादान निजगुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय॥४॥

उपादान बल जहाँ तहाँ नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सौं रथ चले रवि को यहै स्वभाव॥५॥

सधै वस्तु असहाय जहाँ तहाँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में तिरै सहज बिन पौन॥६॥

उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश।
वसे जु जैसे देश में धरे सु तैसे भेष॥७॥

परिशिष्ट-२

उपादान-निमित्त दोहा

—भैया भगवतीदास

पाद प्रणमि जिनदेव के, एक उक्ति उपजाय।
उपादान अरु निमित्त को, कहुँ संवाद बनाय॥१॥

पूछत है कोऊ तहाँ, उपादान किह नाम।
कहो निमित्त कहिये कहा, कब के हो इह ठाम॥२॥

उपादान निज शक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तैं, बन्यौ अनादि बनाव॥३॥

निमित्त कहे मोकों सबै, जानत है जगलोय।
तेरो नाव न जानही उपादान को होय॥४॥

उपादान कहै रे! निमित्त, तू कहा करै गुमान।
मोकों जानें जीव वे, जो हैं सम्यक्वान॥५॥

कहैं जीव सब जगत के, जो निमित्त सोई होय।
उपादान की बात को, पूछे नाहीं कोय॥६॥

उपादान बिन निमित्त तू, कर न सके इक काज।
कहा भयो जग ना लखै, जानत हैं जिनराज॥७॥

देव-जिनेश्वर गुरु-यती, अरु जिन-आगमसार।
इह निमित्त तैं जीव सब, पावत हैं भव-पार॥८॥

यह निमित्त इह जीव के, मिल्यौ अनन्तीबार।
उपादान पलट्यौ नहीं, तो भटक्यौ संसार॥९॥

कै केवलि कै साधु के निकट भव्य जो होय।
सो क्षायिक सम्यक् लहै, यह निमित्त बल जोय॥१०॥

केवलि अरु मुनिराज के, पास रहें बहु लोय।
पै जाको सुलट्यौ धनी, क्षायिक ताकों होय॥११॥

हिंसादिक पापन किये, जीव नरक में जाहिं।
जो निमित्त नहीं काम को, तो इम काहे कहाहिं॥ १२॥

हिंसा में उपयोग जहाँ, रहे ब्रह्म का राच।
तेई नरक में जात हैं, मुनि नहि जाहिं कदाच॥ १३॥

दया-दान-पूजा किये, जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठौ कहौ, यह क्यों माने लोय॥ १४॥

दया-दान-पूजा भली, जगत माहिं सुखकार।
जहँ अनुभव को आचरण, तहँ यह बन्ध विचार॥ १५॥

यह तो बात प्रसिद्ध है, सोच देख उर माहिं।
नरदेही के निमित्त बिन, जिय क्यों मुक्ति न जाहिं॥ १६॥

देह पींजरा जीव को, रोके शिवपुर जात।
उपादान की शक्ति सों, मुक्ति होत रे भ्रात॥ १७॥

उपादान सब जीव पै, रोकन हारो कौन।
जाते क्यों नहिं मुक्ति में, बिन निमित्त के हौन॥ १८॥

उपादान सु अनादि को, उलट रह्यौ जगमाहिं।
सुलटत ही सूधे चले, सिद्ध लोक को जाहिं॥ १९॥

कहो अनादि निमित्त बिन, उलट रह्यो उपयोग।
ऐसी बात न संभवै, उपादान तुम जोग॥ २०॥

उपादान कहे रे निमित्त, हम पै कही न जाय।
ऐसे ही जिन केवली, देखे त्रिभुवन राय॥ २१॥

जो देख्यो भगवान ने, सो ही साँची आहिं।
हम-तुम संग अनादि कै, बली कहोगे काहिं॥ २२॥

उपादान कहे वह बली, जाको नाश न होय।
जो उपजत विनशत रहे, बली कहाँ तैं सोय॥ २३॥

उपादान तुम जोर हो, तो क्यों लेत अहार?
पर निमित्त के योग सों, जीवत सब संसार॥२४॥

जो अहार के जोग सों, जीवत हैं जगमाहिं।
तो वासी संसार के, कोऊ मरते नाहिं॥२५॥

सूर सोम मणि अग्नि के, निमित्त लखें ये नैन।
अन्धकार में कित गयो, उपादान दृग दैन॥२६॥

सूर सोम मणि अग्नि जो, करे अनेक प्रकाश।
नैन शक्ति बिन ना लखैं, अन्धकार सम भास॥२७॥

कहै निमित्त वे जीव को मो बिन जग के माहिं।
सबै हमारे वश परे, हम बिन मुक्ति न जाहिं॥२८॥

उपादन कहै रे निमित्त! ऐसे बोल न बोल।
तोको तज निज भजत हैं, ते ही करें किलोल॥२९॥

कहै निमित्त हम को तजै, ते कैसे शिव जात।
पंच महाव्रत प्रगट हैं, औरहु क्रिया विख्यात॥३०॥

पंच महाव्रत जोग त्रय, और सकल व्यवहार।
पर कौ नमित्त खिपाय के, तब पहुँचे भव-पार॥३१॥

कहै निमित्त जग में बड़्यौ, मो तैं बड़ौ न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसाद तैं होय॥३२॥

उपादान कहै तू कहा, चहुँ गति मे ले जाय।
तो प्रसाद तें जीव सब, दुःखी होंहि रे भाय॥३३॥

कहै निमित्त जो दुःख सहै, सौ तुम हमहिं लगाय।
सुखी कौन तैं होत हैं, ताको देहु बताय॥३४॥

जो सुख को तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नाहिं।
ये सुख तो दुःख-मूल है, सुख अविनाशी माहिं॥३५॥

अविनाशी घट-घट बसे, सुख क्यों विलसत नाहिं।
शुभ निमित्त के योग बिन, परे-परे बिललाहिं॥३६॥

शुभ निमित्त इह जीव को, मिल्यौ अनन्ती बार।
पै इक सम्यग्दर्श बिन, भटकत फिरचौ गंवार॥३७॥

सम्यग्दर्श भये कहा, त्वरित मुक्ति में जाहिं।
आगे ध्यान निमित्त है, ते शिव को पहुँचाहिं॥३८॥

छोरि ध्यान की धारणा, मोरि योग की रीत।
तोरि कर्म के जाल को, जोरि लई शिव प्रीत॥३९॥

तब निमित्त हार्यो तहाँ, अब नहीं जोर बसाय।
उपादान शिवलोक में, पहुँच्यौ कर्म खिपाय॥४०॥

उपादान जीत्यो तहाँ, निज बल कर परकास।
सुख अनन्त ध्रुव भोगवे, अन्त न बरन्यौ तास॥४१॥

उपादान अरु निमित्त ये, सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति सँभारही, सो पहुँचे भवतीर॥४२॥

'भैया' महिमा ब्रह्म की, कैसे वरनी जाय?
वचन अगोचर वस्तु है, कहिबी वचन बताय॥४३॥

उपादान अरु निमित्त को, सरस बन्यौ संवाद।
समदृष्टि को सरल है, मूरख को बकवाद॥४४॥

जो जानै गुण ब्रह्म के, सो जाने यह भेद।
साख जिनागम सौं मिले, तो मत कीज्यौ खेद॥४५॥

नगर आगरा अग्र है, जैनी जन को वास।
तिह थानक रचना करी, 'भैया' स्वमति प्रकास॥४६॥

संवत् विक्रम भूप को, सत्तरह सै पंचास।
फाल्गुन पहले पक्ष में, दशों दिशा परकास॥४७॥

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	परमभावप्रकाशक नयचक्र [हिन्दी, गुजराती]	११.००
२.	पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
३.	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी]	७.००
४.	सत्य की खोज [हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़]	७.००
५.	धर्म के दशलक्षण [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी]	६.००
६.	बारहभावना : एक अनुशीलन	६.००
७.	क्रमबद्धपर्याय [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल]	५.००
८.	गागर में सागर	५.००
९.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५.००
१०.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	४.००
११.	आप कुछ भी कहो [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़]	४.००
१२.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	३.००
१३.	निमित्तोपादान	२.५०
१४.	युगपुरुष कानजीस्वामी [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल]	२.००
१५.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में [हिन्दी, मराठी]	१.५०
१६.	चैतन्य चमत्कार	१.५०
१७.	मैं कौन हूँ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी]	१.५०
१८.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	१.२५
१९.	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित) [हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती]	१.२५
२०.	शुद्धात्म शतक (अर्थसहित)	१.२५
२१.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, म., क., त., ते., अ.]	१.००
२२.	सार समयसार	१.२५
२३.	विदेशों में जैन धर्म : उभरते पदचिह्न	२.००
२४.	विदेशों में जैन धर्म : बढ़ते कदम	१.००
२५.	विदेशों में जैन धर्म : अध्यात्म की जगती जिज्ञासा	१.२५
२६.	विदेशों में जैनधर्म : धूम क्रमबद्धपर्याय की	२.००
२७.	समयसार पद्यानुवाद	१.००
२८.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१.००
२९.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना (जेबी साइज)	.५०
३०.	अर्चना (जेबी साइज)	.७५
३१.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	.८०
३२.	वीतरागी व्यक्तित्व भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती]	.२५
३३.	बालबोध पाठमाला भाग-२ [हिन्दी, गुजराती, म., क., त., ब., अ.]	१.५०
३४.	बालबोध पाठमाला भाग-३ [हिन्दी, गुजराती, म., क., त., ब., अ.]	१.५०
३५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१ [हिन्दी, गुजराती, म., क., अ.]	१.५०
३६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२ [हिन्दी, गुजराती, म., क., अ.]	२.५०
३७.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३ [हिन्दी, गुजराती, म., क., अ.]	२.५०
३८.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी]	२.५०
३९.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	२.५०